

चैतन्य की चहल-पहल

‘युगल’ जैन

चैतन्य की चहल-पहल

दृष्टि का विषय

सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्ज्ञान

(स्व-पर प्रकाशक स्वभाव) एक विवेचन

लेखक :

‘युगल’ जैन एम.ए., साहित्यरत्न

कोटा

सम्पादक :

ब्र. नीलिमा जैन

कोटा

प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल,

कोटा

अब तक : 11,300
पंचम संस्करण : 3100 प्रतियाँ (01 जनवरी, 2012)

मूल्य : 10 रुपये

प्राप्ति स्थान -

- श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल,
C/o स्वस्तिक स्टेशनर्स
रामपुरा बाजार, कोटा (राज.) 324-006
- पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
A-4, बापू नगर, जयपुर (राज.) 302-015

प्रकाशकीय

लोकरंजन की सस्ती प्रवृत्ति से दूर लोकमांगल्य के उदात्त धरातल पर प्रतिष्ठित बाबू जुगलकिशोरजी 'युगल' एक प्रखर प्रज्ञापुरुष हैं। वर्तमान विशाल मुमुक्षु समुदाय के हृदय में स्थित मधुर वाणी एवं तात्त्विक ज्ञान से सुसज्जित सुप्रसिद्ध श्रेष्ठ प्रवचनकार तो हैं ही, साथ ही उनकी लेखनी भी समृद्ध है जिससे कई गहन तात्त्विक लेख, पूजा एवं कविताएँ रची गई हैं। भक्तिरस से युक्त आपके द्वारा रचित 'देव-शास्त्र-गुरु पूजन' एवं 'सिद्ध पूजन' सर्व श्रेष्ठ होने के साथ इस युग में हिन्दी साहित्य की अनुपम कृति है।

जैन दर्शन के महत्वपूर्ण विषय सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्ज्ञान (स्व-पर प्रकाशक) के वास्तविक स्वरूप का सर्वांग विवेचन "चैतन्य की चहल-पहल" में चार लेखों के माध्यम से किया गया है, जिसे आत्मसात् करके भविजन अपने अनादि अलब्ध एवं विस्मृत दिव्यस्वरूप को प्राप्त कर सकेंगे।

"चैतन्य की चहल-पहल" का प्रथम संस्करण कुन्दकुन्द प्रवचन प्रसारण संस्थान, उज्जैन द्वारा प्रकाशित किया गया था। इस पुस्तक में तत्त्वज्ञान : एक अनूठी जीवन कला एवं सम्यग्दर्शन और उसका विषय (प्रथम) दो लेख सम्मिलित कर नया परिवर्धित द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया गया था। तत्त्व जिज्ञासु पाठकों की अत्यधिक माँग होने से अब यह पंचम संस्करण प्रकाशित करते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है।

आदरणीय बाबूजी की साहित्यिक निधि को प्रकाशित करते हुये श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, कोटा गौरवान्वित अनुभव कर रहा है। प्रस्तुत पुस्तक का सुव्यवस्थित संयोजन पण्डित देवेन्द्रकुमारजी जैन अलीगढ़ एवं सम्पादन ब्र. नीलिमा जैन ने किया, इसके लिये हम उनके आभारी हैं।

अधिकाधिक जिज्ञासु आदरणीय बाबूजी के गहन गम्भीर एवं स्पष्ट तात्त्विक चिन्तन को हृदयगम कर अपना जीवन सार्थक बनायें - इसी भावना के साथ प्रस्तुत प्रकाशन पाठकों को समर्पित है।

सम्पादकीय

जैन जगत की “आँखों के तारे” विद्वत् मण्डल के चमकते सितारे, प्रकृति प्रदत्त प्रतिभा के धनी, परमश्रद्धेय पू. ‘बाबूजी युगलजी’ के उज्ज्वल निखरे व्यक्तित्व से सम्पूर्ण जन-मन परिचित है। आर्हत् दर्शन में जिस चिरन्तन सत्य का उद्घाटन हुआ है, उसमें कुशल गोताखोर की भाँति आपने इसकी अतल गहराई में से जिन मणियों को बटोरा, उन्हीं का गहनतम प्रतिपादन “चैतन्य की चहल-पहल” में आया है।

इसी संकलन के प्रथम लेख में आपके उद्गार इस रूप में व्यक्त हुए हैं—
“तत्त्वज्ञान गर्वोन्मत्त भोगमय मृण्मय जीवन को खुली चुनौती है। पापोदय की विभिषिकायें हों अथवा पुण्योदय की इन्द्रधनुषी छटायें, ज्ञानी की सत्ता का स्पर्श नहीं करती।”

तात्त्विक लेख शृंखला में आपने जैन तत्त्व के गूढ़तम विषय को सुगठित भाषा, प्रश्नोत्तर शैली एवं संक्षिप्त दृष्टांत द्वारा बड़ा सरल व मनोहर रूप देकर प्रस्तुत किया है, स्थान-स्थान पर ध्रुव की धुरी पर घूमता आपका चिन्तन पर्याय की मन्त्र मुग्धाओं को क्षण भर के लिये विलीन कर निज की ओर खींच लाता है।

इस कृति में एक नवीन लेख सम्यग्दर्शन और उसका विषय (प्रथम) प्रकाशित कर रहे हैं। इससे पूर्व यह सन् १९६० में प्रकाशित हुआ था। तब एक प्रसंग बना, यह लेख आद. सौगानीजी के हाथ लगा तो उन्होंने इसे पढ़ा और अपने सहधर्मियों से बोले— “इसको पढ़ो, यह है सम्यग्दर्शन का विषय।” इसी के अन्तर्गत अनेक सुन्दर बिन्दु उभर कर आये हैं— “दृष्टि सम्यक् होने पर ही ज्ञान में सम्यक्त्व उत्पन्न होता है और दृष्टि के सम्यक्त्व के अभाव में ज्ञान उपादेय तत्त्व का विज्ञापन तो करता है, किन्तु ज्ञान में उस शुद्ध तत्त्व की प्रसिद्धि नहीं होने पाती।” “ध्रुवतत्त्व ही सभी शुद्ध पर्यायों का उपास्य देवता है।” आपके प्रखर व निर्मल चिन्तन के ये बोधिकण व्यवहार श्रद्धा एवं सम्यग्दर्शन संबंधी गंतियों को समाप्त करने के लिये सत्य समाधान हैं।

इसके पश्चात् जीवन पथ प्रदाता पू. गुरुदेव श्री के समय में लिखा गया लेख 'सम्यग्दर्शन का विषय' दृष्टि को ध्रुव की दुनियाँ में पहुँचा देता है। सन् १९७७ में यह लेख आगमपथ में प्रकाशित हुआ था, तब यह विषय पू. गुरुदेव के समक्ष पढ़ा गया, तो वहाँ के अनेक श्रोताओं के चित्त में आशंकाओं का होना स्वाभाविक था। तब समाधान में पू. गुरुदेवश्री के मुखारबिन्द से निकल पड़ा— 'बधू सांचू छे, काँई खोट नथी, ऐमज होय दृष्टिनो बल।'

इसी लेखमाला के कुछ अंश — “पू. गुरुदेव से पूर्व आध्यात्मिक चिन्तन का रिवाज तो था, किन्तु चिंतन में अध्यात्म नहीं था।” “सम्यग्दर्शन के घर में स्वयं सम्यग्दर्शन के रहने के लिये भी कोई जगह नहीं, उसने अपना कोना-कोना ध्रुव के लिये खाली कर दिया है।” “श्रद्धा की अनंत शून्यता में ही ध्रुव की मंगलमय बस्ती बसती है। अहंमय ध्रुव श्रद्धा का श्रद्धेय नहीं होता। श्रद्धा का श्रद्धेय पूर्ण व सर्वोपरि होता है।”

इसी संकलन के ज्ञान-स्वभाव लेख में ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, ज्ञान की जानन कला का आगम के आजार से सुयुक्ति पूर्ण विवेचन है, जिसे पढ़ने पर भ्रामक दृष्टि का अंत होकर साफ सुथरी दृष्टि मिलती है।

स्वच्छ ज्ञान की मथानी से मथी स्वस्थ चिंतन धारा व न्यून लेखनी के ये लघुकाय अंश हैं, लेकिन कलेजा दीर्घ है। जैसे गंगा जहाँ से निकलती है उसका पाट बहुत छोटा और जहाँ जाकर मिलती है वह बहुत विशाल होता है; ऐसे ही चैतन्य की गंगोत्री से निकली मुक्ति की ओर बहती सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल धारा का पाट चाहे छोटा हो, किन्तु लोक शिखर में स्थित सिद्धों के केवलज्ञान में जाकर वह कपाट खुला सो खुला.....

इस प्रशस्त कार्य का अवसर मिला मेरा सौभाग्य है, मुझ अज्ञ से कुछ त्रुटि रही हो तो मार्गदर्शन अपेक्षित है।

यह त्रिवेणी लेख तन्तु पाठकों के मुरझाये व खण्डित चिन्तन को परिष्कृत कर प्राणवान बना नई ताजगी देंगे। जिससे समस्त प्राणी मुक्ति का उज्ज्वल पथ प्रशस्त करते रहेंगे।

— ब्र. नीलिमा जैन, कोटा

अनुक्रम

1 . तत्त्वज्ञान : एक अनूठी जीवन कला	07-13
2 . सम्यग्दर्शन और उसका विषय (प्रथम)	14-24
ज्ञान में हेय-उपादेय प्रवृत्ति	15
व्यवहार श्रद्धा अथवा व्यवहार सम्यग्दर्शन	16
श्रद्धा गुण की कार्य प्रणाली	18
दृष्टि का विषय	21
3 . सम्यग्दर्शन का विषय (द्वितीय)	25-50
(पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी एवम् उनका जीवन दर्शन)	
वस्तु तत्त्व दर्शन	28
जीव के अनादि अज्ञान का कारण व निवारण	29
आत्म-पदार्थ की अनैकान्तिक दृष्टि	33
गुण-पर्याय का अहम् भी मिथ्यादर्शन	34
ज्ञान का अनेकान्त व दृष्टि का एकान्त स्वरूप	
ज्वलंत प्रश्न का सरल समाधान	36
क्या है पर्याय का हेयत्व ?	38
सम्यक् श्रद्धा का श्रद्धेय पूर्ण ही होता है	40
सम्यक् चारित्र का सौन्दर्य	46
4 . ज्ञानस्वभाव – सम्यग्ज्ञान	51-64
स्व-पर प्रकाशक स्वभाव	

तत्त्वज्ञान : एक अनूठी जीवन कला

सर्व विद्याओं में अध्यात्म-विद्या का स्थान सर्वोपरि है, क्योंकि अध्यात्म-विद्या के अतिरिक्त अन्य किसी भी लोक-विद्या के पास आत्मा के स्थायी सुख की गारंटी नहीं है। लोक-विद्या से प्राप्त समस्त सन्निधियां आत्मा की परिधि से बाहर होने से आत्मा को उनका उपभोग होता ही नहीं है। अतः उनके पास आत्म-शान्ति का कोई विधान नहीं है। आत्म-शान्ति अध्यात्म-विद्या का सर्वाधिकार सुरक्षित अधिकार है और उस अध्यात्म-विद्या की साधना का प्रारम्भ तत्त्वज्ञान से होता है।

तत्त्वज्ञान सर्व समस्याओं के समाधान की एक अद्भुत जीवन कला है। वही जीवन का सर्वप्रथम कर्म और सर्वप्रथम धर्म है। उसके बिना जीवन असीम वैभव के बीच भी दरिद्री और अशांत है और उसके प्रादुर्भाव में सर्व जागतिक वैभव के बिना भी वह अकेला ही परमेश्वर है।

तत्त्वज्ञान वस्तु-दर्शन की एक अलौकिक पद्धति है। वह लोक-कथित वस्तु-विधानों का विश्वासी नहीं है। पदार्थों में पारस्परिक सम्बन्धों की लोक-रूढ़ कहानी तत्त्वज्ञान को सम्मत नहीं है। वह उस लोक-वार्ता को असत्य घोषित करता है जहाँ दो पदार्थों में किंचित् भी सम्बन्ध घटित किया गया हो। वस्तु के साथ संयुक्त से दिखाई देने वाले दीर्घकाय संयोगों तक सीमित न रहकर वह वस्तु

की थाह लेता है। उसका अनुसंधान अति सूक्ष्म एवं गम्भीर है। वह ऐसा गोता खोर है जो सागर के घनत्वों को तब तक वेधता जाता है जब तक उसे सीपी के संपुट में मोती उपलब्ध नहीं होता।

तत्त्वज्ञान का सम्पूर्ण विधान आत्मा के लिये है। वस्तुतः वह आत्मा की ही परिशुद्ध बोधावस्था है। वह आत्मा के अनन्त कष्टों के कारणों का निदान कर जीवन के शांति निकेतन का उद्घाटन करता है। वह कहता है कि आत्मा सदा ही अविनाशी, अनन्त शान्ति का निधान, परम वीतराग, सबसे अलग-थलग, अनंत शक्ति पुंज एक सम्पूर्ण चैतन्य सत्ता है। अनंत महिमावंत वस्तु होने पर भी आत्मा को सदा से ही अपने गौरव की प्रतीति एवं बोध नहीं है वरन् अनादि से ही वह देह और देह के परिकर अगणित जड़-स्कंधों में अपनी प्राण-प्रतिष्ठा करता रहा है। वस्तु व्यवस्था के आलोक में जब आत्मा की इस प्रवृत्ति की मीमांसा की जाती है तो वह अपराधिनी सिद्ध होती है; क्योंकि कण-कण की स्वाधीनता में व्यवस्थित विश्व को यह बहुत बड़ी चुनौती है, कुदरत की सत्ताओं को अपने तंत्र में लेकर निगलने का यह सर्व महान् अपराध है, अतः दण्डनीय है। किन्तु अपने इस प्रयास में आत्मा कभी भी कृत-कार्य नहीं होता क्योंकि पर सत्ताओं में उसके हस्तक्षेप की चरितार्थता कभी भी संभव नहीं है। अतः विवशता की कारा में तड़पता ही रहता है।

आत्मा की अनंत कष्टावलियों के सम्बन्ध में तत्त्वज्ञान का यह त्रैकालिक निदान है और तत्त्वज्ञान उनके सार्वभौमिक और सार्वकालिक परिहार का पथ भी निर्दिष्ट करता है। वह कहता है कि सुख और

शांति आत्मा का स्वरूप ही है। अतः किसी अन्य पदार्थ एवं इन्द्रिय भोगों को उसका साधन मान कर संग्रह की चेष्टा करना मूर्खतापूर्ण अपराध है। इस विश्वास के कारण आत्म-वृत्ति एक अनाचारी पुरुष की तरह सदैव पर सत्ताओं में परिभ्रमण शील रहती है। अतः अपनी चैतन्य वाटिका की महिमा में अविराम चिंतन द्वारा भ्रमणशील चैतन्य वृत्तियों को आत्मस्थ करके स्वरूप सौन्दर्य का संवेदन करना ही मुक्ति का एक मार्ग है, दूसरा नहीं।

तत्त्वदृष्टा को देह और उसके परिकर अगणित इन्द्रिय विषयों का सानिध्य भी रहता है। इनका कभी मनोवांछित परिणमन भी होता है और कभी परम प्रतिकूल भी, किन्तु परत्व बोध के बल से वह इन सभी परिस्थितियों में अप्रभावित रह लेता है।

इसी प्रकार अज्ञान के निमित्त से आत्मा के साथ संश्लिष्ट कर्म बन्धनों के प्रति भी तत्त्वज्ञ अत्यन्त मध्यस्थ हो जाता है क्योंकि जैसे एक समझदार अपराधी इस तथ्य को असंदिग्ध भाव से जानता है कि उसके बन्धन उसके पूर्व-कृत अपराधों के प्रतिफल मात्र हैं किन्तु अपराधों के कारण नहीं हैं, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान की यह अत्यन्त निःशंक और स्पष्ट मान्यता है कि कर्म बन्धनों का उसकी अशुद्धतम संसार दशा और शुद्धतम मोक्ष दशा के प्रति किंचित् भी कर्तृत्व नहीं है।

तत्त्वज्ञान तत्त्व-दर्शी की प्रयोगशाला है। वह आत्मा से संयुक्त विजातीय परतों का एकसरे की रश्मियों की तरह तब तक भेधन करता जाता है जब तक उसे आनन्द-निधान चैतन्य के दर्शन नहीं होते। काया और कर्म की माया में तो उसके चरण

अवरुद्ध होते ही नहीं है, क्योंकि इनमें तो उसे चैतन्य का आभास भी नहीं होता; किन्तु राग-द्वेष एवं पुण्य-पाप जैसी आत्म-वृत्तियों में भी उसे चैतन्य का चिह्न नहीं मिलता क्योंकि पर के प्रति आकर्षणशील होने से वे अत्यन्त विकृत हैं, अतः उपादेय नहीं है। जैसे मलेरिया के मच्छर के संयोग में उत्पन्न मलेरियो ज्वर शरीर की पर्याय होने पर भी शरीर का स्वरूप नहीं है; इसी प्रकार कर्म की उदय दशा में उत्पन्न पुण्य-पाप की अवस्था आत्मा की पर्याय होने पर भी आत्मा का स्वरूप सौंदर्य नहीं है। और जैसे जिसकी शक्ति प्रबल है उसे मलेरिया मच्छर का योग ज्वर का निमित्त नहीं होता, इसी प्रकार जिसे अपनी चैतन्य सत्ता का सुदृढ़ अवलम्बन है उसे कर्मोदय विकार का निमित्त नहीं होता वरन् मात्र ज्ञेय कोटि में रहता है। यह तत्त्वज्ञान का सूक्ष्म अनुसंधान है। उसका मन्तव्य है कि भिन्न लक्षण वाले अनेक भाव एक साथ तो रह सकते हैं पर कभी भी एक नहीं हो जाते। दही के दीर्घ समुदाय में दही के कण-कण के साथ मक्खन दही से भिन्न विद्यमान रहता है और वृंदावन की ग्वालिन भी उसे दही से अलग निकालने से पूर्व ही उसकी पूरी की पूरी प्रतीति में प्रवर्तमान है। किन्तु जैसे एक बालक को दही और मक्खन के भेद का परिज्ञान नहीं होता इसी प्रकार अज्ञानी को भी आत्मा और पुण्य-पाप के अंतर का बोध न होने से कभी पाप और कभी पुण्य की उपासना करता रहता है किन्तु तत्त्ववेदी पाप-पुण्य के विकार-पुंज में भी विकार से अत्यन्त भिन्न चैतन्य की अव्याहत प्रतीति में गतिमान रहता है।

तत्त्वज्ञान की शोध यहीं विराम नहीं ले लेती, किन्तु पुण्य-पाप के आवरणों से आगे वह चैतन्य की खोज में और

गहरी उतरती है और उसे चैतन्य जगत में ही क्षणिकाओं का एक अत्यन्त सुन्दर कक्ष दिखाई देता है जो अत्यन्त सुन्दर होने पर भी उसे इसलिए रमणीय नहीं लगता कि सागर की तरंग के सदृश वह सदा उपलब्ध रह सकने योग्य नहीं है, और सागर तो सदा उपलब्ध है। अतः क्षणिका का ममत्व भी एक मधुर उन्माद है, जिसमें से निरन्तर विकलता का ही स्राव होता है।

इसके अनन्तर चैतन्य का कपाट खुलता है और तत्त्वज्ञान को उसके असंख्य प्रदेशी सन्निवेश में अनन्त शक्तियों का मंगल-लोक दिखाई देता है जैसे चित्र-विचित्र पुष्पों की वाटिका खिली हो। किन्तु तत्त्वज्ञान यहाँ काफी सूक्ष्म एवं गंभीर हो जाता है, क्योंकि चैतन्य की अनुभूति का यह अंतिम व्यवधान है। वह देखता है कि अनन्त के दर्शन में भी अनुभूति की तरलता समाप्त नहीं होती वरन् अनन्त शक्ति की इस चक्रीयता में भी सुहाती-सुहाती सी मंद-मंद विकलता ही निष्पन्न होती है जिसका भेद सजग प्रज्ञ को ही प्रतिभासित होता है। अतः इस शक्ति सम्मोहन से भी अपराजित एवं अतृप्त तत्त्वज्ञान अपने पुरुषार्थ के अंतिम चरण में तूफानी त्वरा से परिणमित होता है और उसे अत्यन्त निस्तरंग अतल-चैतन्य का वह दिव्य-लोक दिखाई देता है, जहाँ अनन्त ही शक्तियां एकत्व में एकीभूत हैं। यहाँ सर्व तरलताओं को विसर्जित करके अनुभूति ऐसी समाहित हो जाती है कि द्वैत ही दिखाई नहीं देता। शुद्ध चैतन्य की यह आनन्द-वेदना ही आर्हत-दर्शन का प्रसिद्ध ब्रह्मानन्द है।

तत्त्वज्ञान जीवन एवं जगत की एक सर्वांग मीमांसा है। जीवन की एक भी समस्या ऐसी नहीं जिसका समाधान उसके पास न हो।

यद्यपि अक्षय चैतन्य ही उसका एक मात्र अहं है और वह निरंतर वहीं स्थापित रहता है फिर भी क्षय के प्रति गतिमान अपने पर्याय दोषों का वह सजग प्रहरी है। चारित्रिक दौर्बल्य से प्रवर्तमान कोई दोष उसे उपेक्षित नहीं है। साथ ही वह निरन्तर दोषों से खिन्न एवं विह्वल भी नहीं है, तो सतत् उनका चिन्तन शील भी नहीं है, क्योंकि सर्व-दोष-निःशेष की अद्भुत कला उसे विदित है। वह जानता है कि सतत् दोष का विचार व निरन्तर दोषों का भय दोष-मुक्ति का कोई उपाय नहीं है। उसका अत्यन्त स्पष्ट निर्णय है कि आत्मा में सर्व दोषों का जन्म एक मात्र स्वरूप-स्खलन से ही होता है। अतः स्वरूप-निष्ठा ही निर्दोष निर्वाण का एक मात्र साधन है।

पर्याय में व्याप्त दोष-समुदाय के साथ तत्त्वज्ञान को जीवन का एक वह पहलू भी दिखाई देता है जहाँ निरन्तर योग-वियोग आवर्तित होते रहते हैं। पापोदय की विभीषिकायें हों अथवा पुण्योदय की इन्द्रधनुषी छटायें, तत्त्वज्ञान इस रहस्य को बारीकी से जानता है कि ये सब उसकी सत्ता का स्पर्श ही नहीं करते। अतः पापोदय की भीषण हैरानी अथवा पुण्योदय का मधुर उन्माद उसकी प्रज्ञा को कभी आच्छादित करते ही नहीं हैं। जब अज्ञानी पाप एवं पुण्य का क्रीतदास होकर पदाघातों से कन्दुक की तरह दुर्दशाओं के चक्र से कभी मुक्त नहीं होता तब चैतन्य जीवी तत्त्वदृष्टा ऐसी हर परिस्थिति में संतुलित एवं समवस्थ रहता है।

तत्त्वज्ञान गर्वोन्मत्त भोगमय जीवन के मृण्मय स्वरूप को खुली चुनौती है। चैतन्य के अस्तित्व में सन्देह कर जो मिट्टी के भोगों को ही जीवन का स्वरूप मानते हैं, देह एवं भोग की वियोग-चेतना से भट्टी में पड़े कीट की तरह जो निरन्तर अतिशय वेदना से तड़फते

हैं उन्हें तत्त्वज्ञान का संदेश है कि समस्त भोग संग्रह एवं संग्राहक भाव ठीक ऐसी ही मिथ्या कल्पनायें हैं जैसे एक बालक मधुर विष पीता हुआ हँस रहा हो।

समग्र संयोग-वियोग की संततियों के संबंध में तत्त्वज्ञान का सुनिश्चित अभिमत है कि वे कभी भी आत्मा के पुरुषार्थ से निष्पन्न नहीं हैं। वे सभी दैव-साध्य हैं जिन्हें दृष्टि-शून्य अज्ञानी अपना संपादन मानता है, अतएव उसका संपूर्ण जीवन संयोगों की सुरक्षा में नष्ट हो जाता है। जब तत्त्वज्ञान इनकी सीमा में अपनी व्यवस्था का भयंकर पाप नहीं करता अतएव हल्का-फुल्का समरसी जीवन जीता है।

तत्त्वज्ञान कषाय के शिखरों पर उल्का की तरह गिरता है। उसका उदय होते ही विभिन्न पापाचारों के वे रूप जो युग के साथ बदलते रहते हैं जिनसे व्यक्ति के चरम पतन की समष्टि की व्यापक चेतना भी अभिशप्त एवं आहत होती है, प्रयत्नों के बिना ही अनायास समाप्त होते हैं। हत्यायें, लूटपाट, कालाबाजार एवं रिश्वत जैसे राष्ट्रीय पाप एवं दहेज जैसा सामाजिक कुष्ठ जो चिकित्सा के साथ बढ़ता ही जाता है, तत्त्वज्ञान के उदय से पूर्व ही निःशेष हो जाते हैं; क्योंकि विशुद्ध मानस-भूमि में ही तत्त्वज्ञान का जन्म होता है। अतः पाप के असंख्य रूपों का प्रहारक तत्त्वज्ञान ही लोकशांति का सुनिश्चित विधाता है।

इस प्रकार सचमुच तत्त्वज्ञान चरम पतन से चरम उत्कर्ष तक ले जाने वाली जीवन की खुली पुस्तक है। ●

सम्यग्दर्शन और उसका विषय (प्रथम)

दर्शन शब्द विविध मत-मतांतर, चाक्षुष-ज्ञान, सामान्य अवलोकन तथा श्रद्धा आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। सम्यग्दर्शन के प्रकरण में दर्शन श्रद्धा के अर्थ में ग्राह्य होता है। श्रद्धा, विश्वास, दृष्टि, प्रतीति, रुचि आदि शब्द 'दर्शन' के पर्यायान्तर हैं। श्रद्धा आत्मा की एक शक्ति है। उसकी पर्याय का विषय ध्रुव स्वतत्त्व है।

सम्यग्दर्शन – श्रद्धा शक्ति की निर्मल, निर्विकार दशा है। सही-दृष्टि विश्वार्थों का सही अवलोकन करती है और उनमें से अपने उपादेय तत्त्व को चुनकर उसी का आश्रय करती है। इसके विपरीत गलत-दृष्टि अथवा मिथ्या-दृष्टि स्व से सर्वथा भिन्न विश्व के पदार्थों के साथ एकत्व अथवा कारण-कार्य भाव की स्थापना करती है। सम्यग्दर्शन अथवा सही-दृष्टि का अर्थ यह नहीं है कि अपने से भिन्न शरीरादि पर-पदार्थों को पर कह दिया जाय, चेतन को चेतन अथवा जड़ को जड़ कह दिया जाय और अपने अबद्ध अस्पृष्ट अक्षय स्वभाव का चिन्तन कर लिया जाय वरन् स्व-पर के बीच जो मौलिक भेद विद्यमान है, उसकी सर्वांगीण (षट्कारकीय) स्वीकृति पूर्वक स्वतत्त्व की निर्विकल्प अनुभूति में सम्यग्दर्शन का अवतरण होता है।

ज्ञान में हेय-उपादेय प्रवृत्ति

यद्यपि सच्ची श्रद्धा से पूर्व प्रवर्तित होने वाला ज्ञान भी स्व-पर के भिन्नत्व का प्रतिपादन करता है, किन्तु देहादि से भिन्न उपादेय स्वरूप निज शुद्ध जीवत्व यदि अनुभूति में न आये तो ज्ञान के द्वारा भिन्नत्व प्रतिपादन का कोई मूल्य नहीं है। इसीलिए दृष्टि सम्यक् होने पर ही ज्ञान में सम्यक्त्व उत्पन्न होता है और दृष्टि के सम्यक्त्व के अभाव में ज्ञान उपादेय तत्त्व का विज्ञापन तो करता है, किन्तु ज्ञान में उस शुद्धत्व की प्रसिद्धि नहीं होने पाती। अतः अनुभूति शून्य उस ज्ञान को मिथ्याज्ञान की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। फिर वह ज्ञान लोकदृष्टि से विस्तृत होने के कारण भले ही आदरणीय हो, किन्तु प्रयोजनभूत शुद्ध स्व-तत्त्व और रागादि विकार तथा देहादि जड़ तत्त्वों में ग्रंथिभेद करने में असमर्थ होने के कारण पर को ही स्वस्थान में सेवन करता हुआ अपने योग्य फल अर्थात् निराकुल सुख का उत्पादन नहीं करता। अतएव श्रद्धा की सचाई के साथ ही ज्ञान में सचाई उत्पन्न होती है।

श्रद्धा और ज्ञान-शक्ति के कार्यों की उनके स्व-स्वलक्षणों से भिन्न पहिचान न होने के कारण ज्ञान के “मैं शुद्ध और निर्विकार हूँ” इत्यादि विकल्पों को ही प्रायः सम्यग्दर्शन मानने की भूल की जाती है, किन्तु “मैं शुद्ध ज्ञान तत्त्व हूँ” इस विकल्प की पुनरावृत्ति को वास्तव में सम्यग्दर्शन कहते ही नहीं है। वरन् शुद्ध ज्ञायक तत्त्व की अखंड धारावाहिक निर्विकल्प प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहते हैं। विकल्प में ज्ञायक तत्त्व का विचार तो है, किन्तु तत्त्व का स्पर्श नहीं है। यदि “मैं शुद्ध ज्ञायक तत्त्व हूँ” ज्ञान के इस

विकल्प को सम्यग्दर्शन मान लिया जाय तो ज्ञान सदा इस विकल्प में तो रहता नहीं है, और तब तो जिस समय ज्ञान आत्मातिरिक्त अन्य पदार्थों को विषय करेगा, उस समय सम्यग्दर्शन का अभाव स्वीकार करना पड़ेगा; किन्तु ऐसा नहीं है। ज्ञान जिस समय पर-तत्त्व को विषय कर रहा हो, उस समय भी श्रद्धा का सद्भाव रहता है। जैसे किसी व्यक्ति को निद्रा में अपने नाम तथा जाति ज्ञान के विषय न रहने पर भी उनकी अखंड प्रतीति बनी ही रहती है। यह प्रतीति जागृत दशा में भी अक्षुण्ण रहती है, जागृत दशा में विभिन्न व्यापार करते हुए भी उस व्यक्ति को नाम तथा जाति विषयक प्रतीति की अखंड धारा साथ ही प्रवाहित होती रहती है। यह अखंड प्रतीति ज्ञान की पर्याय तो नहीं है, अतः यह ज्ञानातिरिक्त किसी अन्य शक्ति की ही पर्याय है और उसे ही श्रद्धा कहते हैं।

व्यवहार श्रद्धा अथवा व्यवहार सम्यग्दर्शन

ज्ञान की भाँति सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धारूप विकल्प भी सम्यग्दर्शन नहीं है, किन्तु वह चारित्र की शुभरागरूप पर्याय है। देव-शास्त्र-गुरु को विषय करने वाला चारित्र विकारी होता है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को विषय करने का अर्थ ही कारण-कार्यभावपूर्वक उनकी उपादेयता को स्वीकार करना है। सच्ची श्रद्धा या सम्यग्दर्शन शुद्ध त्रैकालिक पदार्थ अर्थात् पर-निरपेक्ष स्व-जीवतत्त्व को ही विषय करती है अन्यथा यह मिथ्या होती है।

शास्त्रों में जो सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा है, वह निमित्त की अपेक्षा से है। सम्यग्दर्शन सात तत्त्व की समझ पूर्वक ही होता है और तत्त्व की समझ में सच्चे देव-शास्त्र-

गुरु ही निमित्त होते हैं अन्य नहीं। जैसे संस्कृत भाषा सीखने के अभिलाषी विद्यार्थी को आंग्ल भाषा-भाषी अध्यापक निमित्त नहीं होता ! उसी प्रकार तत्त्व की सच्ची समझ में मिथ्या देव-शास्त्र-गुरु निमित्त नहीं होते। सम्यग्दर्शन जब भी होता है, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की एकान्त श्रद्धा अर्थात् भक्तिपूर्वक ही होता है। अतएव सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति होनेवाले शुभविकल्पों को भी व्यवहार सम्यग्दर्शन की संज्ञा दी जाती है। वास्तव में वे शुभविकल्प सम्यग्दर्शन नहीं हैं।

इसीप्रकार आगम में जीवादि सात तत्त्वों की श्रद्धा को भी सम्यग्दर्शन कहा। यह कथन भी निमित्त की ओर से है, वास्तविक नहीं; क्योंकि वह सम्यग्दर्शन नहीं, सम्यग्दर्शन का निमित्त होने के कारण ऐसा उपचार किया गया है। निमित्त भी कब बनता है ? जब उनको (सात ही तत्त्वों को) हेय मानकर और निरपेक्ष शुद्ध चैतन्य को उपादेय माना, सात तत्त्वों को एक ओर रखा, अदृश्य कर दिया, उनके भी विकल्प तोड़कर उनकी अनेकरूपता या एकरूपता में भी हेयत्व दृष्टि व उनमें 'मैं यह हूँ' ऐसे अहंमय मिथ्यादर्शन का विसर्जन करता हुआ, शुद्ध चैतन्य की ओर एक बार झाँका, तो उसी क्षण सम्यग्दर्शन (सच्ची श्रद्धा) का प्रादुर्भाव होता है। तब सात तत्त्व को निमित्त कहा जाता है।

सत्य पुरुषार्थ द्वारा सात तत्त्वों को निमित्त बनाकर, फिर उसकी निमित्तता छोड़कर उनको हेय जानकर, ये 'मैं नहीं' जानकर, 'ये मेरे ज्ञेय भी नहीं', इनकी ओर से श्रद्धा व ज्ञान को खींचकर, त्रिकाली शुद्ध चैतन्य पर स्थापित किया, इसी प्रथम अनुभूति में विलक्षण आनंद का मधुरिम स्वाद आता है, तब सात तत्त्व सम्यग्दर्शन के निमित्त कहे जाते हैं।

जैसे रसोई होती है, वह किसकी बनी होती है ? जहाँ हम खाना बनाते हैं, पूछा जाता है, दूध कहाँ रखा है ? तो उत्तर मिला रसोई में, लेकिन क्या वह वास्तविक रसोई है ? रसोई तो जिसमें रस भरा हो, जिसके सेवन से क्षुधा निवृत्ति होकर तृप्ति होती है, वह असली रसोई है। पाषाण की रसोई को रसोई कहने पर भी उसे सत्य नहीं मान लेना, यह रसोई नहीं हो तो भोजन नहीं बनता, लेकिन इससे भी भोजन नहीं बनता। यह तो निमित्तमात्र है, निमित्त भी तब कहेंगे, जब हम पाषाणमयी रसोई का विकल्प तोड़कर भोजन की योग्य सामग्री द्वारा भोजन बनाने का भिन्न पुरुषार्थ करेंगे, तो रसोई बनेगी और हमारे प्रयोजन की सिद्धि होगी। यदि पाषाण निर्मित रसोई को रसोई मानकर बैठ जायेंगे तो भूखे ही रहेंगे, कष्ट ही बढ़ेगा। अतः सात तत्त्व की श्रद्धा को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा गया, वह वास्तव में सम्यग्दर्शन नहीं, सम्यग्दर्शन तो शुद्धात्मतत्त्व की निर्विकल्प प्रतीति व अनुभूतिरूप आनन्दप्रदायी ही होता है और इसीलिए वहाँ सम्यग्दर्शन के साथ व्यवहार शब्द की योजना की गई है। व्यवहार सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण की पर्याय ही नहीं है, फिर उसे सम्यग्दर्शन कहा भी कैसे जा सकता है ? करणलब्धि के उपरान्त जब स्वानुभूति पूर्वक सम्यग्दर्शन होता है, तब तो देव-शास्त्र-गुरु व सात तत्त्व का विकल्प भी नहीं रहता। पश्चात् सतत् स्वानुभूति में नहीं रहने पर भी सम्यग्दर्शन तो विद्यमान रहता है।

श्रद्धागुण की कार्य प्रणाली

श्रद्धागुण की विशेषता अथवा उसका अर्थ यह है कि वह जिसको विषय करता है, उसे ही परिपूर्ण स्व अथवा आत्मा मानता

है और उसी में संपूर्णता से 'आपा' ('मैंपना') की स्थापना करता है। आत्मा वास्तव में कैसा है इसकी प्रतीति श्रद्धा का ही कार्य है। यह निर्णय यदि भ्रान्तिवश गलत हो तो श्रद्धा की उस पर्याय को मिथ्यादर्शन कहते हैं और सही हो तो श्रद्धा की उस पर्याय को सम्यग्दर्शन कहते हैं। "मैं वर्तमान में कैसा हूँ" इससे सम्यग्दर्शन को कोई प्रयोजन नहीं है, किन्तु वास्तव में कैसा हूँ - यह उसका विषय है।" फलस्वरूप जीवत्व से अतिरिक्त अजीवादि तत्त्व तथा आस्रव, संवर, निर्जरा, मोक्ष आदि सभी विकारी और निर्विकारी पर्यायों को सम्यग्दर्शन विषय नहीं करता। सम्यग्दर्शन जिसको विषय करता है उसे ही उपादेय मानता है और उसी का आश्रय करता है। अतः अजीवादि परतत्त्व तथा रागादि विकारों में तो सम्यग्दर्शन की उपादेयता होती ही नहीं, वरन् निर्विकारी पर्याय में भी उसकी उपादेयता नहीं है; क्योंकि निर्विकारी पर्याय भी क्षणिक होने के कारण दृष्टि को वहाँ विराम नहीं मिलता।

लोक में भी हम देखते हैं कि एक ८० वर्ष की वृद्धा सूत कातती है, तो दृष्टि पोनी पर रहती है तो सूत बिना किसी रुकावट के निकलता रहता है, और सूत की ओर दृष्टि जाते ही धागा टूट जाता है - यही प्रक्रिया यहाँ मोक्षमार्ग में है। पर्याय को आश्रय देकर उसकी ओर दृष्टि करते ही एक क्षण में पर्याय खिसक जाती है। फलस्वरूप क्लेश की उत्पत्ति होगी। इसके विपरीत सम्यग्दर्शन पर्याय निरपेक्ष, शुद्ध, अनन्त शक्तियों के पिंड ध्रुव जीवत्व को विषय करती है। अतः आश्रय एकरूप ध्रुव होने के कारण पर्याय का आविर्भाव एवं तिरोभाव उसे क्लेश उत्पन्न नहीं करता। पर्याय की

उन्मग्नता एवं निमग्नता में भी 'मैं' एकरूप ध्रुव शुद्ध तत्त्व हूँ' ऐसी प्रतीति अक्षुण्ण रहती है। एक ओर त्रैकालिक ध्रुवस्वभाव है, एक ओर क्षणिक पर्यायों का वर्तमान है — दोनों में उपादेयता का श्रेय एक को ही मिल सकता है। ध्रुवस्वभाव के इस विश्वास के बल पर ही ध्रुवस्वभाव की सम्पूर्ण शुद्धता के आदर्श से क्षणिक विकारी पर्यायों का परिहार करने का सम्यक् पुरुषार्थ जागृत होता है।

ध्रुवदृष्टि का यह नियम केवल आध्यात्मिक विकास का ही मूल हो ऐसा नहीं है, वरन् लौकिक उत्कर्ष तथा लोक जागरण भी इसी नियम का अनुशीलन करते हैं। भारत की स्वाधीनता इसका ज्वलंत प्रमाण है। सदियों से दासता की श्रृंखलाओं में जकड़े भारत ने जब यह अनुभव किया "मैं स्वतन्त्र हूँ और स्वतन्त्रता मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है" तभी दासता की श्रृंखलाओं को तोड़ने के लिये उसका सुप्त पुरुषार्थ जागा। यदि दासता को ही स्वीकार करके जन्मसिद्ध स्वाधीनता विस्मृत कर दी गई होती और परतन्त्रता के बीच स्वाधीनता का विश्वास ही नहीं जागता तो स्वाधीनता कैसे हस्तगत होती ? अतः स्वाधीनता का विश्वास भारत की स्वाधीनता की उपलब्धि का प्रथम चरण था। स्वाधीनता के विश्वासपूर्वक द्वितीय चरण के रूप में स्वाधीनता संग्राम का सूत्रपात हुआ। इसी प्रकार सही विश्वास या सम्यग्दर्शन आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का भी प्रथम चरण है। वैकारिक पराधीनता में भी सम्यग्दर्शन अपने निर्विकारी स्वरूप का जयघोष करता रहता है। फलस्वरूप पराधीनता के सर्वनाश के लिये द्वितीय चरण के रूप में सम्यक् चारित्र्य का उदय होता है।

दृष्टि का विषय

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि शुद्ध ध्रुव जीवतत्त्व अनन्त शक्तियों का अखंड पिण्ड है और पर्याय से निरपेक्ष है। क्षणिक होने के कारण केवलज्ञानादि शुद्ध पर्यायों भी इसकी अपेक्षा विभाव अथवा अजीव कही जाती हैं। सम्यग्दर्शन का जीव यदि शुद्ध ध्रुव परम पारिणामिक तत्त्व स्वरूप आत्मतत्त्व है, तो फिर ध्रुव जीवतत्त्व के स्वभाव से मेल न खाने वाली सभी विकारी निर्विकारी क्षणिक पर्यायों उसके लिए अजीव सिद्ध हो गईं। केवलज्ञानादि शुद्ध पर्यायों को भी उसी ध्रुवत्व का अवलम्बन है। ध्रुव तत्त्व ही सभी शुद्ध पर्यायों का एकमात्र उपास्य देवता है। क्षणिक पर्याय का अवलम्बन तो उस धसकने वाली धरा के समान है, जिस पर बैठनेवाला उस धरा के साथ स्वयं धसक जाता है।

जैसे मोदक के कोष में से मोदक निकाल कर खाने के उपरान्त यदि मोदक के कोष को विस्मृत कर दे और केवल प्रगटरूप मोदक पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित कर ले तो प्रगटरूप मोदक की समाप्ति पर दूसरा मोदक कहाँ से आयेगा ? कोष पर तो दृष्टि है नहीं और प्रगटरूप मोदक समाप्त ही हो गया है, अतः अब तो विकलता की संतति ही अभिवृद्ध होगी। इसी प्रकार आत्मा के ध्रुवस्वभाव पर दृष्टि न होकर जिसकी वर्तमान मनुष्यादि पर्यायों पर ही दृष्टि है, उन्हीं को जो आत्मा स्वीकार करता है, उसे उस पर्याय के अवसान में तीव्र क्लेश होगा। ज्ञानी को वर्तमान पर्याय के अवसान के समय भी मेरा कुछ नहीं जा रहा है, मैं तो नित्य शुद्ध अक्षय तत्त्व हूँ, ऐसी प्रतीति का अनूठा बल विद्यमान है।

सम्यग्दर्शन के विषय के संबंध में एक शंका यह की जाती है कि उसका विषय निरपेक्ष, निर्भेद, निर्विशेष, शुद्ध ज्ञायक, पर्यायनिरपेक्ष, अखंड जीवत्व है, किन्तु जीव पदार्थ इतना ही तो नहीं है, वह तो एक ही समय में द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक है। तब पदार्थ के केवल द्रव्य पक्ष को स्वीकार करने वाली दृष्टि एकांतिक हुई, और पर्याय की उपेक्षा कर देने पर जीव पदार्थ अखंड भी कैसे रहा ?

यद्यपि द्रव्य-गुण-पर्यायमयता प्रत्येक पदार्थ की अखंडता है और कोई पदार्थ कभी द्रव्य, गुण अथवा पर्याय से रिक्त उपलब्ध नहीं होता, किन्तु द्रव्य-गुण-पर्यायरूप अखंडता सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है। यह प्रमाण का विषय है। अनन्त गुणात्मक अन्वय स्वरूप द्रव्य की जो शाश्वत एकरूपता है, वही सम्यग्दर्शन विषयक अखंडता है। पर्याय के व्यतिरेकों की अपेक्षा तो द्रव्य में नानात्व का प्रतिभास होता है और वह नानात्व ही खंडभाव है, जो सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है। पर्याय के व्यतिरेकों में द्रव्य वैसा का वैसा भले ही दृष्टिगोचर हो, किन्तु वही का वही कभी उपलब्ध नहीं होता। अतः पर्याय की आश्रयकारिणी पर्याय को कभी विराम नहीं मिलता, क्योंकि वह भी पर्याय के साथ चकर खाती रहती है। द्रव्य की आश्रयकारिणी पर्याय का अनन्त विराम है। स्वयं सम्यग्दर्शन को सम्यग्दर्शन का आश्रय नहीं है।

सचाई तो यह है कि पूरे जीव पदार्थ में से सम्यग्दर्शन उतनी ही चीज लेता है, जितनी उसके प्रयोजन की है और वह प्रयोजनभूत चीज अखंड ज्ञायक जीवत्व ही है। जैसे आरोग्य मानवस्वभाव होते हुए भी एक व्यक्ति रुग्ण हो जाता है। यद्यपि आरोग्य और रुग्णत्व दोनों ही एक

ही व्यक्ति के धर्म होने पर भी स्वास्थ्य की उपलब्धि के लिये आरोग्य स्वभाव ही उपादेय तथा श्रद्धेय होता है, रुग्णता तो जानने मात्र के प्रयोजन की होती है; उससे अन्य किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। जबकि आरोग्य स्वभाव तो प्रयोजनभूत मूलतत्त्व है। वह तो श्रद्धा, ज्ञान और आचरण के योग्य है। रुग्णता तो श्रद्धा और आचरण का विषय बनने योग्य नहीं है। यदि वह श्रद्धेय हो तो उसका अभाव कैसे किया जाय ? क्योंकि श्रद्धेय का अर्थ ही उपादेय होता है। इसी प्रकार आत्मा की सभी विकारी निर्विकारी पर्यायें समानरूप से क्षणिक तथा आश्रयदातृत्व से शून्य होने के कारण मात्र ज्ञेय ही होती है, उपादेय नहीं होती, अतः वे सम्यग्दर्शन का विषय नहीं होती; मिथ्यादर्शन का विषय होती है।

त्रैकालिक शुद्ध अखंड जीवत्व को विषय करने के कारण सम्यक् श्रद्धा को एकान्त का दोष आता हो ऐसा भी नहीं है; क्योंकि प्रथम तो पूरे जीव पदार्थ में से जितना अपेक्षित होता है, सम्यग्दर्शन ले लेता है अर्थात् अहं करता है और शेष अंश पदार्थ में विद्यमान रहते हुए भी वह उसे छोड़ देता है। और क्षणिकता से जब उसे प्रयोजन ही नहीं है तो वह उसे लेकर भी क्या करे ? ज्ञान में ध्रुव द्रव्य के अहं के साथ पर्याय की विद्यमानता स्वीकृत होने के कारण ज्ञान में अनेकान्त एवं श्रद्धा में सम्यक् एकान्त निर्विवाद विद्यमान रहता है।

वास्तव में एकान्त-अनेकान्त श्रद्धा के धर्म नहीं है, वरन् ज्ञान के धर्म हैं। अनेकान्तात्मक वस्तु में तो द्रव्य-पर्याय, ध्रुव क्षणिक, निर्विकार-विकार आदि परस्पर विरुद्ध अनन्त धर्म एक ही साथ पड़े हैं। किन्तु सबको समानरूप से उपादेय मानकर

आश्रय करना श्रद्धा के लिये सम्भव ही नहीं है; क्योंकि दोनों पहलू परस्पर विरुद्ध हैं। निर्विकार नित्य तथा सविकार अनित्य, अथवा द्रव्य और पर्याय को समानरूप से उपादेय मानकर एक ही समय में उनका आश्रय (अहं) किया जा सके ऐसा नहीं बनता। दो पक्षों में से एक समय में एक का ही आलंबन सम्भव है, अतः सम्यग्दृष्टि नित्य शुद्धद्रव्य का ही आलंबन करता है, क्षणिक पर्याय का नहीं। अनेकान्त स्वभावी वस्तु के दोनों पक्षों को एक ही साथ हेय उपादेय रूप से विषय करना ज्ञान का कार्य है और उस ज्ञान को ही प्रमाण अथवा अनेकान्त कहते हैं। श्रद्धा यदि दोनों पक्षों को समान रूप में विषय करे, अर्थात् उपादेय माने तो वह मिथ्या है और ज्ञान यदि दोनों पक्षों को एक समय में समानरूप से विषय न करे अथवा सापेक्षता से एक ही पक्ष को एक समय में विषय न करे तो वह ज्ञान मिथ्या है।

अनेकान्त दृष्टि अर्थात् प्रमाण दृष्टि में द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक पदार्थ का अखंड भाव से स्वीकार हो चुकने पर ही उसके किसी एक धर्म को विषय करनेवाले ज्ञान की सम्यक् संज्ञा (नय) होती है। किन्तु अनेकान्त दृष्टि में पदार्थ को सम्पूर्णता से द्रव्य-पर्यायस्वरूप जान लेने पर भी सम्यग्दर्शन अनेकान्त ज्ञान के विषयभूत इस सम्पूर्ण पदार्थ को ही उपादेय नहीं मानता वरन् उसके नित्य शुद्ध पक्ष को ही अंगीकार करता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन आत्मा के जिस स्वभाव को विषय करता है, ज्ञान-चारित्रादि अनन्त शक्तियाँ भी उसी स्वभाव का अनुशीलन करती हैं और अन्त में मुक्त दशा में भी उसी स्वभाव का अहं, संवेदन एवं लीनता पूर्वक पूर्ण शुद्धता अभिव्यक्त होती है।



सम्यग्दर्शन का विषय (द्वितीय)

(पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी एवम् उनका जीवन दर्शन)

‘अहंमय ध्रुव’ श्रद्धा का श्रद्धेय नहीं होता। श्रद्धा का श्रद्धेय इतना पूर्ण एवं सर्वोपरि होता है कि वह उसमें अपने को मिलाने का अवकाश नहीं पाती। वास्तव में ‘पूर्ण’ में ‘पूर्ण के अहं’ के मिलने की भी कोई गुंजाइश नहीं है।

और तो और सम्यग्दर्शन के घर में स्वयं सम्यग्दर्शन के रहने के लिए भी कोई जगह नहीं है। उसने अपना कोना-कोना ध्रुव के लिए खाली कर दिया है।

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी इस युग के एक महान् एवं असाधारण व्यक्तित्व हैं। उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से बहुत दूर जन्म लेकर स्वयं-बुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसंधान किया एवं अपने प्रचण्ड पौरुष से जीवन में उसे आत्मसात् किया। इस जीवन में शुद्ध अन्तस्तत्त्व की देशना के लिए उन्हें किन्हीं गुरु का योग नहीं मिला, फिर भी उन्होंने तत्त्व को पा लिया; क्योंकि सद्गुरु की देशना को वे इस जीवन से पूर्व ही उपलब्ध कर चुके थे। पूर्व देशना से प्राप्त उनका तत्त्वज्ञान इतना परिपूर्ण एवं परिमार्जित था कि वह इस भवान्तर तक भी उनके साथ रहा और उसी ने उन्हें आलोक दिया। उन्होंने तो आगम की नैसर्गिक पद्धति में तत्त्व को उपलब्ध कर ही लिया, किन्तु मेरी कल्पना यह है कि इस युग में अन्तस्तत्त्व के बोध के लिए यदि वे

किसी को अपना गुरु स्वीकार कर भी लेते तो भी उन्हें तत्त्व की उपलब्धि सम्भव नहीं थी; उस समय यह तत्त्व प्रायः अभावग्रस्त था। यहाँ तक कि जीवन के सहज क्रम में जो दीक्षा-गुरु उन्हें मिले थे, तत्त्व की शोध एवं उपलब्धि के लिए उनका मोह भी उन्हें छोड़ना पड़ा।

सौराष्ट्र के उमराला ग्राम में जन्मे उजम्बा एवं मोती के ये लाल बाल्य से ही विरक्त चित्त थे और एक मात्र ज्ञान एवं वैराग्य के प्रकरण ही उन्हें पसन्द थे। अपनी उदात्त लोकोत्तर आकांक्षाओं के समक्ष उन्हें कामिनी का माधुर्य परास्त नहीं कर सका; फलस्वरूप किसी भी मूल्य पर वे उसे जीवन में स्वीकार करने को सहमत नहीं हुए। अन्तर में भोगों से विरक्ति बढ़ती ही गई और अन्त में २४ वर्ष की भरी जवानी में-वे स्थानकवासी सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये। दीक्षा के नियमानुसार घर-बार, कुटुम्ब-परिवार, धन-सम्पत्ति सब छूट ही गये और दीक्षा के आचार का भी दृढ़ता से पालन होने लगा, किन्तु शान्ति की हूक शान्त नहीं हुई; शोध की प्रेरणा प्रशान्त नहीं हुई और अन्तर्द्वन्द्व चलता ही रहा। अतः अधिक समय तक वह प्रतिबन्ध सह्य न हो सका और एक दिन (वि. स. १९९१) मस्त मतंग की तरह उसे भी छोड़कर चल दिये एवं तत्त्व की मस्ती में घूमते श्री कानजी स्वामी का स्वर्णपुरी (सोनगढ़) सहज ही विश्राम-स्थल बन गया।

श्री कानजीस्वामी के जीवन का यह स्थल सर्वाधिक मार्मिक, स्तुत्य, लोक-मांगल्यविधायक एवं वरेण्य है, जहाँ उन्होंने जीवन के सबसे भयंकर शत्रु मताग्रह को खुली चुनौती दी और अन्त में विजयी हुए। जीवन में गृह-कुटुम्ब, कंचन-कामिनी, पद एवं प्रतिष्ठा – सभी कुछ तो छूट जाते हैं; किन्तु महान् से महान् ऋषि, मुनि एवं मनीषियों

का बौद्धिक धरातल इस मताग्रह के प्रचंड पाश से मुक्त नहीं हो पाता। फलस्वरूप दृष्टि निष्पक्ष नहीं हो पाती और असंख्य प्रयत्नों में भी सत्य आत्मसात् नहीं होता।

श्री कानजीस्वामी इस युग के एक शुद्ध आध्यात्मिक क्रान्ति दृष्टा पुरुष हैं। उन्होंने जिस क्रान्ति का सूत्रपात किया, ऐसी क्रान्ति पहिले शताब्दियों में भी नहीं हुई। जैन-लोक-जीवन की श्वासें रूढ़ि, अन्धविश्वास, पाखंड एवं कोरे कर्मकांड की कारा में घुट रही थीं। इसके आगे धर्म कोई वस्तु ही नहीं रह गया था। इन महापुरुष ने शुद्ध जिनागम का मन्थन कर इन जीवन-विरोधी तत्त्वों को अधर्म घोषित किया और इस निकृष्ट युग में शुद्ध आत्मधर्म की प्राण-प्रतिष्ठा की। उन्होंने जन-जीवन को एक सूत्र दिया “स्वावलम्बन अर्थात् निज शुद्ध चैतन्यसत्ता का अवलम्बन ही धर्म है। परावलम्बन में धर्म अथवा शान्ति घोषित करने वाली सभी पद्धतियाँ अधर्म हैं; फलस्वरूप विश्वसनीय नहीं हैं।”

जिस समय भारत वसुधा पर पूज्य श्री कानजीस्वामी का अवतरण हुआ उस समय भी आध्यात्मिक चिंतन का रिवाज तो था किन्तु उस चिंतन में अध्यात्म नहीं था। आध्यात्मिक चिंतन का यह स्वरूप हो चला था कि आत्मा को कहा तो शुद्ध जाता था किन्तु वास्तव में माना अशुद्ध जाता था अथवा यदि शुद्ध माना भी जाता था तो आगम भाषा के दासत्व के कारण शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध माना जाता था और व्यवहारनय से अशुद्ध। इस तरह श्रद्धा के लिए कोई धरती ही नहीं रह गई थी और दो नयों की चक्की में धान की तरह पिसकर आत्मा की मट्टी पलीत हो रही थी। बड़े से बड़े विचारक, महान् प्रतिभाएँ, त्याग और वैराग्य के आदर्श नय की इस

चक्रीयता में इस तरह मुग्ध थे कि न तो उसमें से निकलने का उनका मन था और न सामने कोई रास्ता। सौराष्ट्र के इस संत ने जंगलों के निर्जनों में समयसार एवं मोक्षमार्गप्रकाशक जैसे परमागमों का गम्भीर अवगाहन कर इस आध्यात्मिक समस्या का सरलतम समाधान प्रस्तुत किया।

वस्तु तत्त्व दर्शन

उन्होंने कहा - “विश्व के सभी जड़-चेतन पदार्थ स्वयंसिद्ध अनंत शक्तिमय एवं पूर्ण हैं। वे एक-दूसरे से अत्यन्त भिन्न अपनी स्वरूप-सीमा में ही रहते हैं और एक-दूसरे का स्पर्श तक नहीं करते। अतः सभी जड़-चेतन सत्तायें नितान्त शुद्ध हैं। आत्मा भी एक ऐसी ही स्वयंसिद्ध, निरपेक्ष, शुद्ध चैतन्य सत्ता है। श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, आनन्द आदि उसकी असाधारण शक्तियाँ अथवा स्वभाव हैं, जो शाश्वत उसी में रहते हैं। वह अपने में परिपूर्ण एवं अन्य से अत्यन्त भिन्न है। अतः वह एक शुद्ध एवं स्वतन्त्र सत् है, क्योंकि जो सत् अथवा सत्ता है वह स्वतन्त्र, पूर्ण एवं पवित्र होना ही चाहिए अन्यथा वह सत् कैसा ? जो जड़ है वह पूरा जड़ हो एवं चेतन पूरा चेतन। अपूर्ण जड़ अथवा अपूर्ण चेतन का स्वरूप भी क्या हो ? अतः भिन्नत्व, पूर्णत्व एवं एकत्व सत् का स्वरूप ही है।

विश्व के दर्शनों में जैनदर्शन का यह एक मौलिक अनुसंधान है। अपने अनुसंधान में उसने कहा - वस्तु का एकत्व ही उसका परम सौन्दर्य है। सम्बन्ध की वार्ता विसंवाद है।”

विश्व के प्रत्येक पदार्थ के दो अवयव हैं - एक उसकी अनन्त शक्तिमय ध्रुव सत्ता, जिसे द्रव्य कहते हैं और दूसरी उसकी प्रति समय

बदलने वाली पर्याय। आत्म-पदार्थ के भी इसी प्रकार दो अवयव हैं — एक उसकी श्रद्धा, ज्ञान, आनन्द आदि अनन्त शक्तिमय, ध्रुव, शुद्ध एवं पूर्ण सत्ता एवं दूसरी उसकी श्रद्धा, ज्ञान आदि पर्याय (मानने-जानने आदि रूप पर्याय)। आत्म सत्ता का ऐसा परिशुद्धस्वरूप स्थापित हो जाने पर आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान (जानने-माननेवाली पर्याय) वृत्ति का केवल एक ही काम रहा कि वह आत्मा को पूर्ण एवं शुद्ध ही माने, ऐसा ही जाने एवं ऐसा ही अनुभव करे एवं अन्य सभी जड़-चेतन पदार्थों को अपने से भिन्न जाने। किन्तु आत्मा की इस वृत्ति में सदा से ही यह अज्ञान एवं अविश्वास रहा कि उसने अपने को शुद्ध एवं पूर्ण माना ही नहीं, अतएव अपनी पड़ौसी देहादि सत्ताओं में ही मुग्ध रही। उन्हीं में अहं किया एवं उन्हीं में लीनता।

पर-सत्ताओं में अहं की यह वृत्ति महान् व्यभिचारिणी है, क्योंकि उसमें विश्व की अनन्त सत्ताओं को अपने अधिकार में लेकर उनमें रमण करने की चेष्टा है। अतः विश्व की स्वतन्त्र एवं सुन्दर व्यवस्था को समाप्त कर देने की यह हरकत विश्व का सर्व महान् अपराध हुआ और उसकी दण्ड-व्यवस्था में निगोद फलित हुआ।

जीव के अनादि अज्ञान का कारण व निवारण

परिशुद्ध कांचन-तत्त्व होने पर भी आत्मा की वृत्ति में इतना लम्बा एवं ऐसा भयंकर अज्ञान क्यों रहा ? उसका उत्तर आत्मा से दूर कहीं अन्यत्र तलाश करना एक दार्शनिक अपराध होगा, क्योंकि भिन्न सत्ता की वस्तुओं में कारण-कार्य भाव कभी भी घटित नहीं होता। अतः इसका उत्तर स्वयं आत्मा में ही निहित है और वह यह है कि आत्मा ने सदा से स्वतः ही यह अज्ञान परिणाम किया और वह स्वयं ही अज्ञानी रहा।

जैसे — एक लौकिक प्रश्न है कि महान् बलशाली, पराक्रमी एवं अतुल वैभव-सम्पन्न एक सम्राट की महारानी दरिद्री महावत पर मुग्ध क्यों हो गई ? उसका कारण यदि हम महावत को मानें तो सम्राट तो उससे कहीं बहुत अधिक है फिर महावत का मोह कैसा ? अतः पूर्ण अनुसंधान के बाद हमारा अन्तिम समाधान यही होगा कि यह तो महारानी की अपनी स्वाधीन परिणति ही है। उसके मनोविकार का कारण भी अत्यन्त पर-निरपेक्ष ही है। कथन में कर्मोदय आदि की सापेक्षता आ जाती है, किन्तु भाव तो निरपेक्ष ही रहता है; क्योंकि यदि कोई दूसरा आत्मा को अज्ञानी बनावे तो कोई ज्ञानी भी बना सकेगा और पुनः कोई अज्ञानी बना देगा। इस प्रकार आत्मा किसी के हाथ की कठपुतली मात्र रह जायेगा और उसके बन्ध-मोक्ष के सभी अधिकार छिन जावेंगे और यह तो एक मखौल ही होगा।

फिर एक प्रश्न है कि इतने लंबे एवं जटिल अज्ञान का अन्त कैसे हो ? तो यह प्रश्न स्वयं ही अपना उत्तर है। ‘अज्ञान का अन्त कैसे हो’ ज्ञान में इस सबल विचार का उत्पाद ही अज्ञान का प्राणान्तक है, क्योंकि प्रबल अज्ञान में ऐसा समर्थ विचार होता ही नहीं।

अनादि अज्ञान के प्रवाह में शुद्धात्मानुभूति-सम्पन्न किन्हीं ज्ञानी सत्पुरुष का सुयोग मिलने पर जो महान् उद्यमशील आत्मा उनकी कल्याणी वाणी को हृदयंगम करता है, उसका अनादि का अज्ञान शिथिल होकर इस समर्थ विचार में प्रवृत्त होता है। ज्ञानी गुरु के सुयोग एवं उनकी वाणी मात्र से यह नहीं होता वरन् गुरु की वाणी

का मर्म जिसे अपने ज्ञान में प्रतिभासित हुआ है उसे यह विशुद्ध चिंतनधारा प्रारम्भ होती है।

एक प्रश्न हमारा और हो सकता है कि अज्ञानी को ज्ञान ही नहीं है, वह यह सब कैसे करता होगा ? तो ऐसा नहीं है कि उसके पास ज्ञान का अभाव है। अज्ञानी के पास ज्ञान तो बहुत है, किन्तु परसत्तासक्ति के कारण उसके ज्ञान का सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यवसाय भी पर में ही होता है। किन्तु यही ज्ञान सद्गुरु भगवन्त से आनन्द निकेतन स्व-सत्ता की महिमा सुनकर उसके प्रति उग्र व्यवसाय करके सम्यग्ज्ञान में परिणत हो जाता है और अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन करने लगता है।

अज्ञानी के ज्ञान का यह ईहात्मक प्रश्न है कि 'अज्ञान का अन्त कैसे हो ?' अज्ञान को एक खुली चुनौती है। इस प्रश्न में अज्ञानी को अज्ञान का स्वरूप विदित हो चुका है। अब वह समझने लगा है कि मेरी चैतन्य सत्ता तो अनादि-अनंत, पूर्ण, ध्रुव, अक्षयानन्द स्वरूप एवं सर्व सम्बन्ध विहीन है और मेरी ही वृत्ति ने उसे नश्वर, अपूर्ण, दुःखी, अज्ञानी एवं पराधीन कल्पित किया है। यही मेरा अज्ञान था और अज्ञान आत्मा की पर्याय होने पर भी झूठा होने से कभी भी अनुशीलन के योग्य अर्थात् श्रद्धेय नहीं है, क्योंकि अज्ञान के अनुशीलन में कभी भी सही आत्मसत्ता की उपलब्धि नहीं हो सकती।

इस प्रकार अज्ञान को वह स्व-सत्ता विरोधी एवं नितान्त मिथ्या मानकर अज्ञान एवं अज्ञान से प्रादुर्भूत पर-सत्तावलम्बी पुण्य एवं पाप की वृत्तियों एवं अनन्त पर-सत्ताओं से एकत्व तोड़ता हुआ एवं समर्थ भेदज्ञान के बल से स्व-सत्ता में ही एकत्व एवं अहं की स्थापना

करता हुआ अपने अविराम चिन्तन द्वारा जब महामहिम, आनन्द निकेतन निज चैतन्यसत्ता में ही अलख जगाता है तो सदा से पुण्य-पाप जैसी पर-सत्ताओं में पड़ा श्रद्धा का अहं कंपित एवं विडोलित होकर स्खलन को प्राप्त होता है और लौटकर अपनी ध्रुव अक्षय सत्ता में ही अहंशील होता है। स्वरूप के अहं में धारावाहिक सक्रिय इस गौरवमय वृत्ति को ही सम्यग्दर्शन कहते हैं।

श्रद्धा का स्व-सत्ता में अहं परिणत होने के ही क्षण में श्रुतज्ञान की अविराम चिंतनधारा मन का अवलम्बन तोड़ती हुई विराम को प्राप्त होकर उसी शुद्ध चैतन्यसत्ता में एकत्व करती हुई अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभूति करती है। उपयोग की यह परिणति ही सम्यग्ज्ञान है जो अनुभूति का विलय हो जाने के उपरान्त भी भेद-विज्ञान की प्रचंड क्षमता को लेकर सम्यग्दर्शन के साथ निरन्तर बना रहता है और उसी समय किंचित् रागांशों के अभाव से उत्पन्न अल्प स्वरूप-स्थिरता ही स्वरूपाचरण चारित्र है।

इस प्रकार परम आनन्दस्वरूप यह अनुभूति श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र की त्रिवेणी है और साक्षात् मोक्षमार्ग है।

जैनदर्शन का यह चिंतन सचमुच कितना वैज्ञानिक है कि जहाँ वह यह प्रतिपादन करता है कि जीवन-कला का आरम्भ ही जीवन-तत्त्व (निज अक्षय सत्ता) के स्वीकार से होता है; इसीलिए साधना के प्रथम चरण में उसने सम्यग्दर्शन को स्थापित किया और कहा कि इसके बिना सर्वबोध एवं जीवन की सर्व आचार-संहिता मिथ्या ही होती है।

आत्म-पदार्थ की अनेकान्तिक दृष्टि

सम्यग्दर्शन जैसी जीवन की महान् उपलब्धि एवं उसके विषय को हृदयंगम करने के लिए यदि हम आत्म-पदार्थ के द्रव्य-पर्यायस्वरूप पर अनेकान्तिक दृष्टि से विचार करें तो निर्णय बड़ा ही सरल हो जाएगा।

यह निर्विवाद है कि आत्म-पदार्थ के दो अंश हैं — द्रव्य एवं पर्याय। आत्म-पदार्थ का द्रव्य अंश जिसे शुद्ध चैतन्यसत्ता, कारणपरमात्मा, परमपारिणामिकभाव भी कहते हैं; सदा पर से भिन्न, अक्षय, अनन्तशक्तिमय, पूर्ण, ध्रुव, अत्यन्त शुद्ध एवं पूर्ण निरपेक्ष है। उसमें कुछ भी करने का कभी भी अवकाश नहीं है और वह सदा ज्यों का त्यों रहता है। आत्मा के द्रव्यांश का यह स्वरूप प्रसिद्ध हो जाने पर अब उसका दूसरा अंश पर्याय शेष रह जाती है। यदि हम पर्याय की कार्य-मर्यादा पर विचार करें तो हमारे मन में स्वाभाविक ही एक प्रश्न पैदा होगा कि द्रव्य के पूर्ण एवं शुद्ध सिद्ध हो जाने पर पर्याय को तो द्रव्य में कुछ करना ही नहीं रहा, तब फिर पर्याय का कार्य क्या होगा? तो उसका एक सरल उत्तर है कि जब आत्मा का स्वभाव ही श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, आनन्द आदि है तो उसकी पर्याय का कार्य भी नित्य विद्यमान द्रव्य की श्रद्धा, उसी का अह, उसी की अनुभूति एवं उसी की लीनता करना रहा और पर्याय का स्वरूप भी आलम्बनशीलता ही है। वह द्रव्य की रचना नहीं करती, द्रव्य में कोई अतिशय नहीं लाती, वरन् द्रव्य जैसा है, वैसी ही उसकी प्रतीति एवं अनुभूति करती है। द्रव्य तो ज्ञान एवं अज्ञान दोनों दशाओं में ज्यों का त्यों रहता है। इस प्रकार अनेकान्तिक पद्धति

में आत्म-पदार्थ के दो अंश द्रव्य एवं पर्याय की स्वरूप-सीमा भी स्थिर हो जाती है और आत्म-पदार्थ दो अंशों में खण्डित न होकर द्रव्य-पर्यायस्वरूप पूरा बना रहता है।

गुण-पर्याय का अहम् भी मिथ्यादर्शन

आत्मा द्रव्य-पर्यायस्वरूप होने पर भी द्रव्य और पर्याय का स्वरूप परस्पर विरुद्ध होने के कारण श्रद्धा का अहं एक ही साथ दोनों में नहीं हो सकता। जैसे एक स्त्री का अहं एक ही साथ स्व एवं पर दो पुरुषों में नहीं हो सकता। नित्य द्रव्य के अहं में 'मैं अक्षय हूँ' ऐसी अनुभूति होती है और अनित्य पर्याय के अहं में 'मैं क्षणिक हूँ' ऐसा संवेदन होता है। पर्याय का स्वरूप भी विविध-रूपा है। वह क्षणिक है, आलम्बनवती है, वर्तमान में विकारी है, भूत एवं भविष्य का वृत्ति-समुदाय वर्तमान में विद्यमान ही नहीं है एवं समग्र ही वृत्ति-समुदाय गमनशील है, उसमें विश्राम नहीं है। पथिक को गमन में नहीं, गन्तव्य में विश्राम मिलता है; क्योंकि गन्तव्य ध्रुव एवं विश्रामस्वरूप होता है। इसी प्रकार आत्मवृत्ति को वृत्ति में नहीं ध्रुव में ही विश्राम मिलता है। वृत्तियाँ तो स्वयं ही विश्राम के लिए किसी सत्ता को तपासती हैं। इस प्रकार समग्र ही वृत्ति-समुदाय दृष्टि (श्रद्धा) के विषय-क्षेत्र से बाहर रह जाता है। इसी अर्थ में आचार्यदेव श्री अमृतचन्द ने कहा है कि “बद्धस्पृष्टादि भाव आत्मा के ऊपर ही ऊपर तैरते हैं, उनका आत्मा में प्रवेश नहीं होता।”

इस सम्बन्ध में कुछ और भी तथ्य विचारणीय हैं। आत्मा एक अनादि अनन्त ध्रुव एवं अक्षय सत्ता है। गुण एवं पर्याय तो उसके लघु अंश हैं और वह एक ही सदा इनको पीकर बैठा है। अतः गुण-

पर्याय के अनन्त सत्त्वों से भी वह एक चिन्मय सत्ता बहुत अधिक है। पर्याय जब उस अनन्तात्मक एक का अहं एवं अनुभव करती है तो उस एक की अनुभूति में अनन्त ही गुणों का स्वाद समाहित हो जाता है। इसके विपरीत एक-एक गुण-पर्याय की अनुभूति की चेष्टा स्वयं ही वस्तुस्थिति के विरुद्ध होने से कभी भी फलित नहीं हो पाती, अतः प्रतिक्षण आकुलता ही उत्पन्न करती है; क्योंकि वस्तु के प्रत्येक प्रदेश में अनन्त गुणों की समष्टि इस तरह संगठित एवं एकमेक होकर रहती है कि उनमें से किसी एक के अनुभव का आग्रह अनन्त काल में भी साकार नहीं होता वरन् अज्ञानी अपनी इस चेष्टा में प्रतिक्षण विफल-प्रयास होने से निरन्तर प्रचण्ड आकुलता को उपलब्ध करता रहता है। गुण पर्याय के अहं में अनन्त गुण-पर्याय की एकछत्र स्वामिनी भगवती चैतन्य सत्ता का महान् अपमान भी होता है। अतः गुण पर्याय का अहं भी जड़ सत्ताओं के अहं के समान मिथ्यादर्शन ही है।

आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय एक ही समय में ज्ञान के विषय तो बनते हैं किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इनको अहं भी एक ही साथ समान रूप से समर्पित किया जाये। अनेक को एक साथ जानना एक बात है और फिर उनमें से श्रद्धा (अहं) के विषय का चयन करना बिलकुल भिन्न दूसरी बात है। सभी ज्ञेय श्रद्धेय नहीं होते वरन् आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्यायमय परस्पर विरुद्ध स्वरूप को जानकर ज्ञान ही यह निर्णय लेता है कि ये तीनों समान रूप से उपादेय नहीं हो सकते वरन् तीनों में मात्र निरपेक्ष, निर्भेद एवं निर्विशेष द्रव्य सामान्य ही उपादेय अथवा श्रद्धेय होने योग्य है। अन्य की उपादेयता स्पष्ट मिथ्यादर्शन है।

ज्ञान का अनेकान्त व दृष्टि का एकान्त स्वरूप ज्वलंत प्रश्न का सरल समाधान

एक वार्ता यह भी बहुलता से चलती है कि जब एकान्त पर्यायदृष्टि अर्थात् पर्याय का अहं मिथ्या एवं आकुलतास्वरूप है तो एकान्त द्रव्यदृष्टि भी मिथ्या एवं आकुलतामय होना चाहिए?

यह तर्क ठीक ऐसा ही लगता है कि गर्त में गिरना यदि एकान्त कष्टमय है तो सदन का निवास भी एकान्त कष्टप्रद ही होना चाहिए, किन्तु यह तर्क तो स्पष्ट अनुभूति के विरुद्ध है। जब अनादि से समग्र ही पर्याय-समुदाय अज्ञान, राग-द्वेष एवं अनित्यता का आयतन है और इसके समानान्तर एकमात्र निज चैतन्य सत्ता ही शुद्ध, पूर्ण, ध्रुव एवं आनन्द-निकेतन है तो दोनों में से किसका अहं एवं किसका अवलम्बन श्रेयस्कर होगा? एक बात और है और वह यह कि ज्ञान सदा अनैकांतिक ही होता है और दृष्टि (श्रद्धा) सदा एकांतिक ही होती है। द्रव्य एवं पर्याय के परस्पर विरुद्ध दोनों पहलुओं का परिज्ञान हो जाने पर सहज ही निर्णय हो जाता है कि वृत्ति (दृष्टि) को दोनों में से कहाँ आराम मिलेगा। निश्चित रूप में ध्रुव द्रव्य ही शाश्वत आराममय है। इसप्रकार ध्रुव की महिमा ज्ञात हो जाने पर अनादि से क्षणिक वृत्ति-समुदाय में पड़ा श्रद्धा का अहं विगलित होकर निज ध्रुव सत्ता के अहं में परिणत हो जाता है।

श्रद्धा का विषय इतना स्पष्ट होने पर भी प्रमाणाभास से ग्रासीभूत आग्रह श्रद्धा के विषय में पर्याय शामिल किये बिना तृप्त नहीं होते। किन्तु हमारा संतुलित विशुद्ध चिन्तन स्वयं हमें यह समाधान देगा कि श्रद्धा के विषयक्षेत्र में पर्याय के भी पदार्पण का हमारा आग्रह अविवेक तो है ही, साथ ही अत्यन्त अव्यावहारिक भी है।

इस सम्बन्ध में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात सदा दृष्टव्य है — एक प्रश्न है कि श्रद्धा का श्रद्धेय पहले से ही विद्यमान एवं पूर्ण होता है या श्रद्धा के क्षण में स्वयं श्रद्धा आदि वृत्तियाँ श्रद्धेय के साथ मिलकर उसे पूरा करती हैं और तब वह उसका श्रद्धेय होता है ?

यदि श्रद्धा आदि वृत्तियाँ श्रद्धेय को पूरा करती हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि श्रद्धेय सदा ही अपूर्ण है और अपूर्ण श्रद्धेय में श्रद्धा का सर्व-समर्पण एवं लीनता अनन्तकाल में भी सम्भव नहीं है। इस प्रकार श्रद्धेय की अपूर्णता में श्रद्धा का स्वरूप सदैव संदिग्ध, भ्रान्त एवं मलिन ही रहेगा और वह कभी भी सर्व-समर्पण पूर्वक श्रद्धेय का वरण नहीं करेगी।

एक बात और है — यह तो सर्वविदित है कि वर्तमान में अज्ञानी का सर्व पर्याय-समुदाय विकारी है और स्व एवं पर, द्रव्य एवं पर्याय, विकार एवं निर्विकार आदि का तात्त्विक चिंतन एवं विश्लेषण भी अज्ञान दशा में ही प्रारम्भ होता है। अतः द्रव्य एवं पर्याय के तात्त्विक विश्लेषण में पर्याय-समुदाय के विकार एवं अनित्यता का पता लग जाने पर भी उसे निर्विकारी द्रव्य के साथ मिलाकर अनुभव करने का आग्रह तो भयंकर अविवेक ही होगा और क्या इस अविवेकपूर्ण प्रयास में किसी मनोरम, रमणीक एवं परम निर्विकार श्रद्धेय की अनुभूति एवं उपलब्धि हो सकेगी ? विकार को निर्विकार के साथ एकाकार करके अनुभव करने के प्रयास में वास्तव में दोनों कभी एकमेक तो होते ही नहीं वरन् इस दुराग्रह में द्रव्य एकांत विकारी ही अनुभव में आता है, कुछ विकारी एवं कुछ निर्विकारी नहीं। वास्तव में यह आग्रह शुद्ध दूध में राख मिलाकर सेवन करने तुल्य है। जब दूध एवं राख परस्पर विपरीत दो तत्त्व हैं और दोनों की

अत्यन्त भिन्न अनुभूति हो सकती है तो दोनों को मिलाकर सेवन करने का आग्रह तो मात्र बालचेष्टा ही होगा। इस चेष्टा में कभी भी शुद्ध दूध की अनुभूति संभवित नहीं होगी एवं कुछ शुद्ध दूध की अनुभूति और कुछ अशुद्ध दूध की अनुभूति – ऐसा द्वैत न होकर एकांत अशुद्धता का ही अनुभव होगा।

इसी प्रकार परम-निर्विकार द्रव्य एवं क्षणिक विकारी पर्याय समुदाय – दोनों परस्पर विपरीत दो भाव होने से दोनों में से एक समय में एक का ही अहं एवं अनुभूति, अत्यन्त असंदिग्ध है। तब फिर दोनों को मिलाने का दुराग्रह क्यों ? और यह आग्रह तो तब होना चाहिए जब एक समय में एक के बिना दूसरे का संचेतन असम्भव हो। किन्तु दोनों भाव परस्पर विपरीत होने से शुद्ध चैतन्यतत्त्व की अनुभूति अशक्य एवं दुःसाध्य तो है ही नहीं वरन् सरलतम, सुखद एवं परम मंगलमय होती है, अतः क्षणिक एवं विकारी पर्याय के सम्मिश्रण के बिना परम निर्विकार द्रव्य के वेदन की अशक्यता का प्रतिपादन ज्ञान का भयंकर क्लैव्य है, फलस्वरूप तिरस्करणीय है।

क्या है पर्याय का हेयत्व ?

वस्तुतः अज्ञानी को अपनी विशुद्ध चिंतनधारा में जब यह पता लगता है कि 'मेरी सत्ता तो नितान्त शुद्ध एवं अक्षय है और मेरी ही वृत्ति उसे अशुद्ध एवं नश्वर घोषित करती रही' तो वृत्ति-समुदाय के मिथ्या प्रलाप का उद्घाटन हो जाने पर वृत्ति-समुदाय में पड़ा उसका विश्वास खलित होकर शुद्ध चैतन्य सत्ता में अपने अहं की स्थापना कर लेता है। इस विश्वास में सदैव ही पर्याय के स्वर का निषेध प्रवर्तित होता है। इसी को पर्याय का हेयत्व कहते हैं। स्पष्ट बात तो यह है कि दृष्टि में

निषेध रूप भी कोई वृत्ति प्रवर्तित नहीं होती वरन् निरन्तर निज शुद्ध चैतन्य सत्ता में अहं का प्रवर्तन ही पर्याय का निषेध अथवा हेयत्व कहा जाता है। फिर भी यदि हमारा पूर्वाग्रह विकारी एवं अनित्य वृत्ति-समुदाय को परम निर्विकार नित्य द्रव्य के साथ मिलाकर अपने श्रद्धेय की रचना करेगा तो उस श्रद्धेय का क्या स्वरूप होगा, इसकी कल्पना भी सम्भव नहीं है। सम्भवतः इस मिथ्या एवं विफल प्रयास में श्रद्धा एवं श्रद्धेय का सम्पूर्ण सौन्दर्य ही नष्ट हो जावेगा। इसी प्रकार भावी निर्विकारी पर्याय-समुदाय को द्रव्य में मिलाकर श्रद्धा करने का आग्रह भी समान कोटि का मिथ्यादर्शन ही है, अतः उस अविद्यमान सत् को विद्यमान द्रव्य में मिलाने की विधि क्या होगी? दूसरी वजनी बात यह है कि कोई भी पर्याय नित्य विद्यमान निर्विकारी निज चैतन्य सत्ता के अवलम्बन पर शुद्ध होती है, न कि शुद्ध पर्याय का अवलम्बन होता है।

इस संदर्भ में एक अत्यंत सुन्दर मनोवैज्ञानिक तर्क भी हमें समाधान देगा कि जब इस विश्व की अनंत सत्ताओं की तरह निज चैतन्य सत्ता भी संपूर्ण एवं सुन्दर है और विश्व की प्रत्येक सत्ता के पास जितना वैभव है उतना ही हमारे पास भी है, तथा अन्य सत्ताओं के स्वामी अन्य द्रव्य ही हैं और अन्य द्रव्य ही होने चाहिए एवं उनके स्वामित्व का हमें कोई अधिकार नहीं हो सकता और होना भी नहीं चाहिए; तो फिर संपूर्ण एवं सुन्दर स्व-सदन (स्व-सत्ता) का अवलम्बन छोड़कर पर-सदन (पर-सत्ता) में प्रवेश का यत्न क्या वैध एवं विधेय होगा? और क्या इस बलात्कार में शान्ति एवं आनन्द की उपलब्धि हो सकेगी? निश्चित ही नहीं होगी वरन् यह यत्न विश्व का महान् अपराध घोषित किया जाएगा।

पुनः एक अत्यंत हृदयग्राही तथ्य भी हमारा ध्यान आकर्षित करेगा और वह यह कि वस्तु की वृत्ति को स्वयं वस्तु में ही विराम न मिले, यह विधान किसने बनाया? माँ की गोदी में अपने ही बालक को धारण करने की क्षमता कब नहीं रहेगी? और वस्तु की वृत्ति अपनी ही वस्तु के अनंत एवं अपरिमित वैभव में संतुष्ट न हो और अन्य की ओर आकर्षित होकर अन्य सत्ताओं में अपना प्रेय एवं श्रेय तपासती फिरे, जगत् में इससे बड़ा आश्चर्य भी क्या होगा? सुमन की सौरभ को स्वयं अपने सुमन में संतोष नहीं, तो फिर जगत् में वह कौन-सा सुमन होगा जो इस सौरभ को अपने में शरण देगा? और वृत्ति को वृत्तिमान में विराम न मिले, लोक में यह लचर व्यवस्था किसने पैदा की? निश्चित ही इस कल्पना में किसी स्वस्थ एवं सुन्दर विश्व की उपलब्धि तो नहीं हो सकेगी। अतः वृत्ति को वृत्तिमान का अवलम्बन ही विश्व का परम सौंदर्य है।

सम्यक् श्रद्धा का श्रद्धेय पूर्ण ही होता है

शुद्ध चैतन्यसत्ता मिथ्यादर्शनादि विकारी पर्याय समुदाय से विकारी नहीं बनती वरन् उस शुद्ध चैतन्यसत्ता का अदर्शन अर्थात् अविश्वास ही मिथ्यादर्शन की विकारी पर्याय है। इसी प्रकार वह चैतन्य सत्ता सम्यग्दर्शनादि शुद्ध पर्यायों के उत्पन्न होने पर शुद्ध नहीं होती वरन् उस शुद्ध चैतन्य सत्ता का दर्शन अर्थात् अहं ही सम्यग्दर्शन की शुद्ध पर्याय है। इस प्रकार चैतन्य सत्ता की त्रैकालिक शुद्धता एवं सर्व पर्याय-निर्पेक्षता अत्यन्त निरापद है और सर्व ही अनित्य एवं विकारी पर्यायसमुदाय उसकी ध्रुव परिधी के बाहर रह जाता है। यहाँ तक कि ध्रुव सत्ता के अहं को सम्यग्दर्शन कहा तो जाता है किन्तु सम्यग्दर्शन वास्तव में ध्रुव

का अहं नहीं वरन् स्वयं ध्रुव है। इस प्रकार स्वयं सम्यग्दर्शन भी सम्यग्दर्शन की परिधी (ध्रुव) के बाहर रह जाता है और द्रव्य पर्याय स्वरूप पूरे आत्म-पदार्थ में सम्यग्दर्शन का विषय पदार्थ का अनंत गुणात्मक सामान्य द्रव्यांश ही होता है, किन्तु अंश होने से वह अपूर्ण नहीं वरन् स्वयं ही पूर्ण है क्योंकि उसे पर-द्रव्य एवं अपनी पर्याय की भी कोई अपेक्षा नहीं होने से वह अत्यन्त निरपेक्ष है और इसलिये वह पूर्ण है। दृष्टि (श्रद्धा) भी उसमें अंश की नहीं वरन् पूर्ण की प्रतीति करती हुई स्वयं पूर्ण है। इस प्रकार दोनों अंशों की पूर्णता ही वस्तु की पूर्णता है।

ध्रुव को अंश मानकर श्रद्धा करना प्रकारान्तर से मिथ्यादर्शन ही है। जैसे ग्यारह के अंक में एक के दोनों अंक अपने-अपने में पूर्ण ही हैं। इस प्रकार दोनों की पूर्णता ही ग्यारह की पूर्णता है। यदि एक के दोनों अंक अपूर्ण हों तो ग्यारह का पूर्णांक ही उपलब्ध नहीं होगा, क्योंकि दो अपूर्ण स्वयं तो कभी पूरे होते ही नहीं, किन्तु दोनों मिलकर भी किसी एक पूर्ण स्वरूप को निष्पन्न नहीं कर सकते। यह वस्तु-स्वभाव की स्वयं सिद्ध विलक्षणता ही है।

वास्तव में सम्यग्दर्शन को जो 'ध्रुव का अहं' कहा जाता है वह ज्ञान का व्यवहार है, किन्तु सम्यग्दर्शन स्वयं अपने को 'ध्रुव का अहं' स्वीकार नहीं करता वरन् ध्रुव स्वीकार करता है। अपने समक्ष विद्यमान 'ध्रुव' में 'मैं ध्रुव हूँ' ऐसी उसकी अभेद स्वीकृति होती है और इस अभेद स्वीकृति को ही 'ध्रुव का अहं' कहते हैं।

'अहंमय ध्रुव' श्रद्धा का श्रद्धेय नहीं होता। श्रद्धा का श्रद्धेय इतना पूर्ण एवं सर्वोपरि होता है कि वह उसमें अपने को मिलाने

का अवकाश नहीं पाती। वास्तव में 'पूर्ण' में 'पूर्ण के अहं' के मिलने की भी कोई गुंजाइश नहीं है, अतः उस पूर्ण में 'पूर्ण के अहं' का भी त्रिकाल अभाव है और जिसमें कुछ मिलाया जा सके वह पूर्ण कैसा? अतः यदि श्रद्धा का स्वर यह हो कि 'मैं पूर्ण का अहं हूँ,' तो इस स्वर में 'पूर्ण का अहं' नहीं वरन् 'अहं का अहं' प्रवर्तित होता है और वह तो स्पष्ट मिथ्यादर्शन ही है।

यदि श्रद्धा को अपने में ही, पर्याय को पर्याय में ही विश्राम मिल जाता है तो फिर वह आलंबन क्यों तपासती है ? और यदि वह आलम्बन तपासती ही रही तो इसका अर्थ यह है कि उसे स्वयं अपने में विराम नहीं मिला। अतः स्वयं 'अहं' एवं 'अहं' की मिलावट वाला पूर्ण श्रद्धा का आलंबन नहीं होता वरन् निरपेक्ष पूर्ण उसका आलम्बन होता है। अतः श्रद्धा में स्वयं श्रद्धा का भी अत्यंत तिरोभाव होकर एक मात्र 'पूर्ण' का वर्चस्व ही आविर्भूत रहता है। उसमें ज्ञान की भाँति मुख्य एवं गौण की कोई व्यवस्था नहीं है।

'ध्रुव' तत्त्व श्रद्धा के लिये मुख्य तत्त्व नहीं वरन् वह उसका सर्वस्व ही है। इसीलिये सम्यग्दर्शन स्वयं अपने को मिटाकर ध्रुव का दर्शन करता है। वह अपने को 'गौण' की कक्षा में भी नहीं रखता। वास्तव में अपने को बचाकर श्रद्धेय को अपना समर्पण करने की वार्ता तो एकदम छल एवं छद्म है। स्वयं को मिटाये बिना समर्पण का स्वरूप ही नहीं बन सकता। इसीलिये सम्यग्दर्शन की दुनियाँ में सम्यग्दर्शन संज्ञा वाली कोई वस्तु ही नहीं है। राधा ने जगत् में राधा को कभी देखा ही नहीं। उसकी दुनियाँ कृष्ण की बनी थी। श्रद्धा की इस अनंत शून्यता में ही

‘ध्रुव’ की मंगलमय बस्ती बसती है और इसीलिये श्रद्धा का यह अद्वैत अनंत आनन्दमय होता है।

इस पद्धति में आत्मा को मात्र ध्रुव मानने से उसमें पर्याय का अभाव नहीं हो जाता वरन् ‘ध्रुव एवं ध्रुव की श्रद्धा’, ‘पूर्ण एवं पूर्ण का अहं’, इस प्रकार दोनों अंशों की निरपेक्ष पूर्णता में आत्म-पदार्थ द्रव्य-पर्यायस्वरूप पूर्ण ही बना रहता है, जैसे शरीर के प्रत्येक अंग की पूर्णता ही शरीर की पूर्णता है। यदि शरीर के सभी अंग अधूरे हों तो सब अधूरे अंगों से एक पूर्ण शरीर तो निष्पन्न नहीं हो सकता। इसी प्रकार ‘आधा द्रव्य एवं आधी पर्याय’ यह पदार्थ का स्वरूप नहीं वरन् ‘पूर्ण द्रव्य एवं पूर्ण पर्याय’ यह पदार्थ का स्वरूप होता है।

वास्तव में ध्रुव को अंश मानने वाली श्रद्धा में पूर्णता की प्रतीति ही नहीं होगी, फलस्वरूप अनुभूति में आनन्द की निष्पत्ति ही नहीं होगी; वरन् अंश अर्थात् अपूर्ण की प्रतीति होने से सदा ही ऐसा लगता रहेगा कि आत्मा में अभी कुछ कमी है। निश्चय ही श्रद्धा आदि वृत्तियों का कार्य ध्रुव आत्मा में कुछ करना नहीं वरन् उसे ध्रुव मात्र मानना होता है। ‘मैं ध्रुव हूँ’ यही सम्यग्दर्शन का स्वर है। सम्यग्दर्शन की काया ध्रुव से ही निर्मित है। उसमें सर्वत्र ध्रुव ही पसरा है। अनित्यता उसमें है ही नहीं। उसे विश्व में ध्रुव के अतिरिक्त अन्य सत्ता का स्वीकार ही नहीं है। उसका विश्व ही ध्रुव है।

यदि दृष्टि में ध्रुव के अतिरिक्त अन्य सत्ता का भी स्वीकार हो तो दृष्टि का स्वभाव अहं होने के कारण उसे अन्य सत्ता में अहं हुए बिना नहीं रहेगा और यही अहं मिथ्यादर्शन है।

‘मेरी सत्ता ध्रुव है’, सम्यग्दर्शन को द्रव्य-पर्याय का यह भेद भी बर्दाश्त नहीं है। दृष्टि (श्रद्धा) का स्वरूप ही ऐसा है। उसे ज्ञान की तरह स्व-पर का भेद करना नहीं आता, उसे तो अहं करना आता है। उसके लोक में कोई पर है ही नहीं। वह मिथ्या होती है, तब भी उसे सब स्व ही दिखाई देता है, तब सम्यक् होने पर तो उसकी परिधि में अन्य भावों का प्रवेश कैसे सम्भव है ? और तो और, सम्यग्दर्शन के घर में स्वयं सम्यग्दर्शन के रहने के लिए भी कोई जगह नहीं है। उसने अपना कोना-कोना ध्रुव के लिए खाली कर दिया है।

सौराष्ट्र के सन्त ने भव के अन्त के लिए ‘ध्रुव’ का यह मंगल सूत्र लोक को दिया। उन्होंने सम्यग्दर्शन के जिस स्वरूप का अनुसंधान किया वह इस युग का एक आश्चर्य है। सम्यग्दर्शन के इस सूक्ष्म एवं अद्भुत स्वरूप का इस युग को स्वप्न भी नहीं था। वास्तव में श्री कानजीस्वामी इस युग में सम्यग्दर्शन के आविष्कर्त्ता हैं और यह भवान्तक सम्यग्दर्शन इस युग को उनका सबसे महान् वरदान है। इसके स्वरूप का बोध उनके बिना सम्भवित ही नहीं था।

उन सत्पुरुष ने सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में प्रचलित सभी भ्रान्तियों को प्रक्षालित कर दिया। कोई कहते थे कि सच्चे देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है तो कोई सात तत्त्व की श्रद्धा। किसी ने तो यहाँ तक कहने का दुस्साहस किया कि जैनकुल में जन्म ही सम्यग्दर्शन है। कहीं से आवाज आई कि सम्यग्दर्शन काललब्धि आने पर अपने आप होता है, उसके लिए पुरुषार्थ अपेक्षित नहीं है और उत्पन्न हो जाने पर भी स्वयं को उसका पता नहीं चलता। किन्तु उन महापुरुष ने रहस्योद्घाटन किया कि इनमें से एक भी सम्यग्दर्शन

नहीं है। इन सबकी समग्रता में भी प्रचंड अन्तर-पुरुषार्थ के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। यह भी नितांत असत्य है कि सम्यग्दर्शन होने पर स्वयं को उसका पता नहीं चलता। सम्यग्दर्शन का उद्भव होने पर साधक को निज शुद्ध चैतन्य सत्ता की लीनता में अतीन्द्रिय आनन्द का प्रत्यक्ष संवेदन होता है। आगम का अक्षर-अक्षर इसका साक्षी है।

उन सन्त ने सम्यग्दर्शन के इस निश्चय पक्ष का ही विवेचन नहीं किया, वरन् उसके व्यावहारिक पक्ष का भी प्रबल समर्थन किया। उन्होंने कहा “सम्यग्दृष्टि मिथ्यात्व, अन्याय एवं अभक्ष्य का सेवन नहीं करता। उसका लोक-जीवन बड़ा पवित्र होता है। वह स्वप्न में भी अतत्त्व एवं असत्य का समर्थन नहीं करता। वही सच्चे देव-गुरु-धर्म का सच्चा उपासक होता है। जीवन में इस विशुद्धि के प्रादुर्भाव के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। उसका जन्म पवित्र मनोभूमि में ही होता है।”

सम्यग्दर्शन की गरिमा को गाते-गाते वे सन्त विभोर हो जाते हैं। वे कहते हैं – सम्यग्दर्शन जीवन की कोई महान् उपलब्धि है। वह जीवन-तरव एवं जीवनकला है। उसके बिना जीवन, मृत्यु का ही उपनाम है। ज्ञान में स्व-पर का भेद समझने की क्षमता होने पर सम्यग्दर्शन हर परिस्थिति में हो सकता है। सातवें नरक की भयंकरता अथवा स्वर्गों की सुषमा उसमें बाधक नहीं होती। कर्मकाण्ड के कठिन विधान उसकी उत्पत्ति में मदद नहीं करते। उसे घर नहीं छोड़ना है, देह का विसर्जन नहीं करना है वरन् घर एवं देह में रहकर ही उनसे अहं तोड़ना है। इसीलिए सम्यग्दर्शन सरल है। कठिन की कल्पना ही कठिनाई है। सम्यग्दर्शन अनुकूल अथवा प्रतिकूल

परिस्थिति का दासत्व स्वीकार नहीं करता। इसीलिए नरक एवं स्वर्ग के विषम वायुमण्डल में भी 'मैं नारकी नहीं', 'मैं देव नहीं' वरन् 'मैं तो अक्षय चैतन्य तत्त्व हूँ' ऐसे अविराम संचेतन में उसका जन्म हो जाता है। इसीलिए वह हर गति में होता है।”

इस युग में सम्यग्दर्शन श्री कानजीस्वामी की एक ऐसी शोध है जिसने मृत्यु की ओर बढ़ते युग के चरण जीवन की ओर लौटा दिये हैं। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि उस संत के सम्यग्दर्शन ने मृत्यु को ही मारकर विश्व से उसकी सत्ता ही समाप्त कर दी है।

सम्यक् चारित्र का सौन्दर्य

सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान की तरह पूज्य गुरुदेव ने चारित्र का भी एक प्राञ्जल स्वरूप प्रस्तुत किया। वे चारित्र के महान् उपासक हैं। चारित्रवन्त दिगम्बर सन्तों के अन्तर-बाह्य स्वरूप का वर्णन करते-करते वे अघाते नहीं हैं। सहस्रों बार उनके अन्तस्तल से ये उद्गार सहज ही निकल पड़ते हैं कि “ऐसे वन-विहारी नग्न दिगम्बर वीतराग सन्तों के दर्शन हमें कब प्राप्त हों और वह अवसर कब आवे जब उस आनन्दमय नग्न दिगम्बर दशा की हमें उपलब्धि हो।” कुन्दकुन्द एवं अमृतचन्द्र जैसे अनन्त भावलिंगी सन्तों के चरणों में उनका मस्तक सदा नत रहता है। आनन्द में झूलते दिगम्बर सन्तों के हृदय के मर्म को आज वे ही पहिचान पाये हैं। मुनित्व के बाह्य इतिवृत्तों में मुनि का आत्मा खो गया था। चारित्र को कठिन एवं कष्टसाध्य माना जाता था। चारित्र के उस महान् उपासक की वाणी के माध्यम से चारित्र का सही स्वरूप आज निखरा है। कोरे शुभ

अनुष्ठानों की काली कारा में चारित्र जैसे जीवन-तत्त्व को कैद करने के सभी प्रयत्न आज उस सन्त ने विफल कर दिये हैं। उन्होंने शंखनाद फूँका “चारित्र न तो घरबार आदि बाह्य संयोगों का वियोग मात्र है और न कर्मकाण्ड की छलांगें। न कोरा नग्नत्व ही चारित्र है। न महाव्रत, समिति आदि का पराश्रित शुभाचार। उपसर्ग एवं परीषह झेलना भी चारित्र नहीं तो इन्द्रियों का दमन एवं भयंकर कायक्लेश भी नहीं, वरन् स्वरूप में अन्तर्लीन आनन्द वृत्ति ही चारित्र है।”

श्री कानजीस्वामी ने चारित्र के अनिवार्य सहचर शुभाचार का भी, जिसे व्यवहार चारित्र कहते हैं, पूरा समर्थन किया। उन्होंने कहा— “शुभाचार जो मात्र मंद कषाय की ही पर्याय है उसे चारित्र मानना तो मिथ्यादर्शन है ही, किन्तु वीतराग चारित्र के अनिवार्य सहचर शुभाचार का सत्त्व ही स्वीकार न करना भी समान कोटि का मिथ्यादर्शन ही है।” मुनित्व की भूमिका में उग्र चारित्र के साथ रहने वाले शेष कषायांश इतने मंद हो जाते हैं कि उनकी अभिव्यक्ति २८ मूलगुणरूप शुभाचार के रूप में होती है। अतएव श्री कानजीस्वामी कहते हैं कि यद्यपि नग्नता मुनित्व नहीं किन्तु मुनि नग्न ही होते हैं और अन्तरंग परिग्रह के अभाव के साथ उनके तिल-तुष मात्र भी बाह्य परिग्रह नहीं होता। मुनि का स्वरूप जमाने के अनुसार नहीं बदलता वरन् उनका त्रैकालिक स्वरूप एक ही होता है।

उन्होंने व्यवहारचारित्र का बड़ा सुन्दर स्पष्टीकरण किया और कहा कि “व्यवहार (शुभभाव) कोई चारित्र नहीं है वरन् वह तो अचारित्र भाव में चारित्र का आरोप मात्र है, क्योंकि

अन्नरंग वीतराग चारित्र के साथ वह शुभभाव भूमि नियम से होती है तथा उस शुभभाव भूमि के प्रकट हुए बिना वीतराग चारित्र भी प्रकट नहीं होता। इसी अनुरोध से मन्द कषायरूप उस अचारित्र भाव को भी चारित्र कहने की एक पद्धति है और इसी पद्धति को व्यवहारनय कहते हैं। किन्तु वस्तुतः चारित्र तो आनन्दमय वीतराग भाव ही है और वही मोक्षमार्ग है। मन्द कषायरूप व्यवहारचारित्र चारित्र का विकार मात्र है। वह थोड़ा भी चारित्र नहीं है और सर्व ही बन्धस्वरूप है।”

सम्यग्दृष्टि को जीवन में सदा ही चारित्र के प्रादुर्भाव की उग्र भावना प्रवर्तित होती है। उसे भले ही पुरुषार्थ की निर्बल गति के कारण चारित्र नहीं होता किन्तु वह कभी भी चारित्र की आनन्दमय वृत्ति के प्रति उदासीन एवं प्रमादी भी नहीं होता। अतः निश्चित ही उसे इस भव अथवा भवान्तर में चारित्र का उदय होता है। मोक्षमार्ग की क्रमिक भूमिकाओं का उल्लंघन करके जल्दबाजी करने से चारित्र नहीं आता, वरन् शुद्ध चैतन्य तत्त्व की उग्र भावना से ही जीवन में चारित्र का उदय होता है।

श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र का तो विशद विवेचन श्री कानजीस्वामी की वाणी में हुआ ही है, किन्तु साथ ही जैनदर्शन के आधारभूत सिद्धान्त निश्चय-व्यवहार, निमित्त-उपादान एवं आर्हत दर्शन का प्राण अनेकांत आदि का जो अत्यन्त प्रामाणिक, आगम-सम्मत एवं सतर्क प्रतिपादन हुआ है, वह चित्त को चकित कर देता है। सम्भवतः जैनदर्शन का आधारभूत कोई सिद्धान्त ऐसा नहीं है, जिसमें उनके ज्ञान एवं वाणी का व्यवसाय नहीं हुआ हो, अध्यात्म का ऐसा सांगोपांग विवेचन तो शताब्दियों में नहीं हुआ। बयालीस वर्ष से

अध्यात्म की बरसातें करती हुई उनकी प्रज्ञा ने अज्ञान की जड़ें हिला दी हैं। तीर्थकरों एवं वीतराग सन्तों के हृदय का मर्म खोलकर उन्होंने हमें तीर्थकरों के युग तक पहुँचा दिया है। उनकी प्रज्ञा ने आगम के गम्भीर रहस्यों की थाह लेकर जो मर्म निकाले हैं वह इस युग का एक आश्चर्य-सा लगता है। वाणी का यह कमाल कि बयालीस वर्ष के धारावाहिक प्रवचनों में कहीं भी पूर्वापर विरोध नहीं है। आत्म-प्रसिद्धि, नय-प्रज्ञापन एवं अध्यात्म-संदेश जैसी साहित्यिक निधियाँ उनकी निर्मल एवं पैनी प्रज्ञा के ऐसे प्रसव हैं जिन्हें देखकर आज के युग का बौद्धिक अहं उनके चरणों की धूल में धूसरित होकर गर्व का अनुभव करेगा।

उनके प्रवचनों से कल्पनातीत आध्यात्मिक साहित्य का सर्जन हुआ है। शाश्वत शान्ति के विधि-विधानों से भरे उनके आध्यात्मिक साहित्य ने भारतीय साहित्य का शीश विश्व में ऊँचा किया है। वह साहित्य युग-युग तक शान्ति के पिपासुओं को सच्ची शान्ति का दिशा-निर्देशन करता रहेगा।

उन्होंने जिस आध्यात्मिक क्रान्ति को जन्म दिया है, उसने युग के प्राण मौत के मुँह से निकाल दिये हैं। आज जन-जन के श्वास-प्रश्वास में अमरत्व का संचार होने लगा है। आज के त्रस्त जन-जीवन को उनकी वाणी में सही राह एवं राहत मिली है। अतः निष्पक्ष दृष्टि से श्री कानजीस्वामी का युग भारतीय इतिहास एवं श्रमण संस्कृति का निश्चित ही एक स्वर्ण युग होगा।

उन्होंने भारतीय इतिहास में एक बेजोड़ अध्याय जोड़ा है। वे उस क्रान्ति के उन्नायक महामानव हैं जिसका जन्म रक्त में नहीं विरक्त में होता है। जिस क्रान्ति के उदय में आत्मा

क्लान्ति का नहीं वरन् मंगलमय शान्ति का संवेदन करता है। लक्ष-लक्ष मानवों ने उनकी इस शान्तिवाहिनी क्रान्ति का समर्थन किया है और उसके सत्य को परख कर उसमें दीक्षित हुए हैं। आज लोक का यह स्वर कि “यदि यह मुक्तिदूत नहीं होता तो हमारी क्या दशा होती? लोक हृदय की सच्ची अभिव्यंजना है। निस्संदेह श्री कानजीस्वामी लोक मांगल्य की प्रतिष्ठा करने वाले एक लोकदृष्टा एवं लोकसृष्टा युगपुरुष हैं।

इन महापुरुष का अन्तर जैसा उज्ज्वल है, बाह्य भी वैसा ही पवित्र है। उनकी अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्त्विक एकरूप एवं परिमित आहार, आगम सम्मत सत्य सम्भाषण, करुण एवं सुकोमल हृदय उनके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। ८७ वर्ष की अति वृद्ध अवस्था में भी उनकी दिनचर्या इतनी नियमित एवं संयमित है कि एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाता। “समयं गोयम मा पमायए” की वीर वाणी उनके जीवन में अक्षरशः चरितार्थ हुई है। शुद्धात्म तत्त्व का अविराम चिन्तन एवं स्वाध्याय ही उनका जीवन है। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति वे सदैव सतर्क एवं सावधान हैं। उसका उल्लंघन उन्हें सह्य नहीं है। उनके जीवन का प्रत्येक स्थल अनुकरणीय है। निश्चित ही वे इस जगत् के वैभव हैं और युग उन्हें पाकर गौरवान्वित हुआ है।

वे युगपुरुष युगों-युगों तक मुक्ति का संदेश प्रसारित करते हुए युग-युग जीवें, यही आज युग के अन्तस् की एकमात्र कामना है।

मैं उन युगपुरुष की ८७ वीं जयन्ती के पुण्य पर्व पर अपनी श्रद्धा के अनन्त सुमन उनके चरणों में चढ़ाता हूँ।



ज्ञानस्वभाव – सम्यग्ज्ञान

(स्व-पर प्रकाशक स्वभाव)

ज्ञान आत्मा का सार्वकालिक स्वभाव है, यह आत्मा की एक असाधारण शक्ति तथा लक्षण भी है। अनन्त जड़ चेतन तत्त्वों के समुदाय इस विश्व में ज्ञान से ही चेतन की भिन्न पहिचान होती है। वह आत्मा का एक प्रमुख गुण है जो विश्व का सविशेष सार्वकालिक प्रतिभासन करता है। आत्मा के अनन्त गुण तथा धर्म भी ज्ञान में ही प्रतिबिंबित होते हैं, मानों ज्ञान में ही आत्मा का सर्वस्व समा रहा हो।

श्री समयसार परमागम में आत्मा को ज्ञानमात्र ही कहा है। लोक में भी किसी एक ऐसी विशेषता की अपेक्षा किसी व्यक्ति को सम्बोधित करने की पद्धति है कि जो उसका सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व कर सके। जैसे किसी व्यक्ति को न्यायाधीश के नाम से सम्बोधित करते हैं। न्यायाधीशत्व उसकी एक ऐसी विशेषता है जिससे वह सब मनुष्यों से भिन्न पहिचाना जाता है। यद्यपि उसमें अन्य सामान्य मनुष्यों जैसी तथा व्यक्तिगत अपनी अनेक विशेषताएँ भी हैं। वह केवल न्यायाधीश ही नहीं है किन्तु न्यायाधीश संज्ञा में उसका संपूर्ण सामान्य-विशेष व्यक्तित्व गर्भित हो जाता है। अतः न्यायाधीश शब्द

उसका सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है। अर्थात् वह व्यक्ति जितना कुछ है वह सब न्यायाधीशत्व में समवेत है। इसी प्रकार ज्ञान आत्मा के अनन्त गुण धर्मों के समान यद्यपि आत्मा का एक गुण विशेष ही है, किन्तु उसके बिना आत्मा पहिचाना ही नहीं जा सकता। ज्ञान का व्यापार प्रगट अनुभव में आता है। अन्य शक्तियों में यह विशेषता नहीं है। अतः ‘उपयोगो लक्षणम्’ की छाया में अनन्त पदार्थों के समुदाय इस घुले-मिले से विश्व में ज्ञान से ही आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व एवं व्यक्तित्व सिद्ध होता है। न केवल आत्मा वरन् जगत के अस्तित्व की सिद्धि भी ज्ञान ही करता है। ज्ञान जगत के निगूढ़तम रहस्यों का उद्घाटन करता है। अतः ज्ञान ही आत्मा का सर्वस्व है और उसके बिना विश्व में आत्म-संज्ञक किसी चेतनतत्त्व की कल्पना ही व्यर्थ है। ---

ज्ञान के स्वभाव को हृदयंगम कर लेने पर सम्पूर्ण आत्म-स्वभाव की समझ ही सुलभ हो जाती है। अतः मनीषी ऋषि कुन्दकुन्द ने अपने समयसार परमगम में आत्मा को ज्ञानमात्र ही कहा है। ज्ञान-मात्र कहने में आत्मा का मात्र ज्ञान गुण नहीं, वरन् अनन्त गुण धर्मों के समुदाय एक अखंड ज्ञायक आत्मा की ही प्रतीति होती है। ज्ञान की स्मृति मात्र में ही अखंड चेतन तत्त्व अपनी अनन्त विभूतियों के साथ दृष्टि में आता है। ज्ञान के एक क्षण के परिणामन को देखिये उसमें आत्मा का सर्वस्व ही परिणमित है, अतः आत्मा मानो ज्ञान ही है, अन्य कुछ नहीं। इस प्रकार गुण-गुणी की अभेद दृष्टि में ज्ञान आत्मा ही है।

यह ज्ञान आत्मा का त्रैकालिक स्वभाव है, जो स्वभाव त्रैकालिक होता है उसका वस्तु से कभी व्यय नहीं होता और

वस्तु की भाँति वह सदा पूर्ण अखंड और शुद्ध होता है। वस्तु उस स्वभाव की ही बनी होती है। अतः वह कभी उससे पृथक् नहीं किया जा सकता, जैसे - उष्णता अग्नि का स्वभाव है, उष्णता अग्नि का सर्वस्व ही है।

ज्ञान का स्वभाव जानना अर्थात् वस्तु का सर्वांग प्रतिभासन करना है, क्योंकि स्वभाव असहाय, अकृत्रिम एवं निरपेक्ष होता है अतः ज्ञान भी जगत से पूर्ण निरपेक्ष एवं असहाय रहकर अपना अनादि अनन्त जानने का व्यापार करता रहता है। अपने जानने के कार्य के सम्पादन हेतु ज्ञान को जगत से कुछ भी आदान-प्रदान नहीं करना पड़ता।

दर्पण के समान ज्ञान की वस्तु को जानने की रीति यह है कि वह सदा एकरूप अखण्ड स्वरूप को सुरक्षित रखकर ज्ञेयाकार (ज्ञेय जैसे आकार) परिणत होता रहता है। ज्ञेयाकार (ज्ञानाकार) परिणति ज्ञान का विशेष भाव है और उस ज्ञेयाकार परिणति में ज्ञानत्व का अन्वय उसका सामान्य भाव है। जैसे - दर्पण अपने स्वच्छ स्वभाव से वस्तुओं को अपने में प्रतिबिम्बित करता है।

दर्पण में वस्तुओं के अनेक आकार-प्रकार बनते-बिगड़ते रहते हैं, किन्तु दर्पण प्रत्येक परिवर्तन में अक्षुण्ण रहता है। वस्तुओं के अनेक आकार-प्रकार के संगठन एवं विघटन में दर्पण की एकरूपता अप्रभावित रहती है। साथ ही उन आकार-प्रकारों से दर्पण की स्वच्छता को आँच नहीं आती। जैसे दर्पण में अग्नि प्रतिबिम्बित होती है किन्तु दर्पण में अग्नि के प्रतिबिम्ब से न तो दर्पण टूटता ही है और न गर्म ही होता है क्योंकि दर्पण में जो अग्नि दिखाई देती है, वह

साक्षात् अग्नि नहीं वरन् वह तो दर्पण की अपनी अग्नि है। वह दर्पण की अपनी पर्याय है। अतः वस्तुतः वह दर्पण ही है।

दर्पण में प्रतिबिम्बित अग्नि की रचना के नियामक उपादान दर्पण के अपने स्वतंत्र हैं। अपनी अग्नि की रचना में दर्पण ने बाह्य अग्नि से कुछ भी सहयोग नहीं लिया है। यह अग्नि दर्पण की अपनी स्वतंत्र सृष्टि एवं संपत्ति है। दर्पण की अग्नि का आकार बाह्य अग्नि तुल्य होते हुए भी बाह्य अग्नि इसमें रंचमात्र भी कारण नहीं है, तथा बाह्य अग्नि जल रही है, इसलिये दर्पण में अग्नि प्रतिबिम्बित हो रही है, यह भी नितांत असत्य है। यदि ऐसा स्वीकार कर लिया जाए तो वस्तुओं को प्रतिबिम्बित करना दर्पण का स्वभाव नहीं रह जाएगा। दर्पण का स्वभाव अग्नि सापेक्ष होकर 'स्वभाव' संज्ञा को खो देगा। वस्तुतः दर्पण के स्वच्छ स्वभाव में यदि अग्न्याकार परिणमन की शक्ति और योग्यता न हो तो सारा विश्व मिलकर भी उसे अग्न्याकार नहीं कर सकता और यदि स्वयं दर्पण में अग्न्याकार होने की शक्ति एवं योग्यता है तो फिर उसे अग्नि की क्या अपेक्षा है? जो शक्ति शून्य है उसे शक्ति नहीं दी जा सकती और जो शक्तिमय है उसे अपनी शक्ति के प्रयोग में किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं होती। जगत् की कोई भी वस्तु पर सापेक्ष रहकर अपना अस्तित्व नहीं रख सकती।

यदि दर्पण में प्रतिबिम्बित अग्नि का कारण बाह्य अग्नि है तो पाषाण में भी अग्नि प्रतिबिम्बित होनी चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः अपनी अग्नि की रचना की सम्पूर्ण सामग्री दर्पण के अपने अक्षय कोष में ही पड़ी है। उसे किसी से कुछ उधार नहीं लेना पड़ता।

इस चर्चा में ऐसा तर्क भी प्रस्तुत किया जाता है कि यदि बाह्य अग्नि दर्पणाग्नि का कारण नहीं है और दर्पण में उस समय अग्न्याकार परिणमन की स्वतन्त्र योग्यता है तो फिर जब अग्नि न हो तब भी दर्पण का अग्न्याकार परिणाम होना चाहिए अथवा अग्नि की समक्षता में भी दर्पण में अग्नि प्रतिभासित न होकर कुछ अन्य प्रतिभासन होना चाहिए।

विचित्र तर्क है यह, जो दर्पण के स्वभाव की स्वतन्त्रता पर एक सीधा प्रहार है। यदि दर्पण के समक्ष अग्नि हो और वह वैसी की वैसी दर्पण में प्रतिबिम्बित न हो तो फिर हम दर्पण किस वस्तु को कहेंगे। वस्तु जैसी हो वैसी ही प्रतिबिम्बित करे उसे ही तो दर्पण कहते हैं। पुनः यदि अग्नि के अभाव में भी दर्पण में अग्नि प्रतिबिम्बित हो अथवा अग्नि की समक्षता में दर्पण में अग्नि के स्थान पर घट प्रतिबिम्बित हो तो दर्पण की प्रामाणिकता ही क्या कहलायेगी। अतः अग्नि का भी होना और दर्पण में भी सांगोपांग वही प्रतिबिम्बित होना यही वस्तुस्थिति है और यही वस्तु का स्वभावगत अनादि-निधन नियम भी है। इसमें पारस्परिक कारण कार्य भाव से उत्पन्न किसी परतन्त्रता अथवा सापेक्षता के लिये रंच भी अवकाश नहीं है। इस प्रकार दर्पण और उसका अग्न्याकार अग्नि से सर्वथा पृथक् तथा निर्लिप्त ही रह जाता है।

दर्पण के समान ज्ञान भी ज्ञेय से अत्यन्त निरपेक्ष रहकर अपने ज्ञेयाकार (ज्ञानाकार) का उत्पाद-व्यय करता है। ज्ञान में ज्ञेय या ज्ञेयाकार के इस अभाव को ज्ञान का 'अतत्' स्वभाव कहते हैं और अनेक ज्ञेयों के आकार परिणमित होकर भी प्रत्येक ज्ञेयाकार

(ज्ञानाकार) में ज्ञानत्व की धारावाहिकता कभी भंग नहीं होती। अर्थात् ज्ञान के प्रत्येक ज्ञेयाकार (ज्ञानाकार) में ज्ञान सामान्य का अन्वय अखण्ड तथा अपरिवर्तित है। ज्ञान के प्रत्येक ज्ञेयाकार में ज्ञान ही प्रतिध्वनित होता है, इसे आगम में ज्ञान का 'तत्' स्वभाव कहा है। अपने में अनन्त लोकालोक रूप चित्र-विचित्र ज्ञेयाकार नियत समय में उत्पादन करने में ज्ञान अत्यन्त स्वतन्त्र है। इसमें उसे लोकालोक की कोई अपेक्षा नहीं है। न उसे लोक से कुछ लेना पड़ता है और न कुछ देना पड़ता है।

‘ज्ञान में जो लोकालोक प्रतिबिम्बित होता है, ज्ञान के उस ज्ञेय जैसे आकार की रचना ज्ञान की उपादान (आमग्री) से होती है। लोकालोक रूप निमित्त की उसमें रंच भी कारणता नहीं है। अतः ज्ञान लोकालोक को जानता है यह कथन व्यवहार ही है, वास्तव में ज्ञान ज्ञेयोन्मुख न होकर स्वतन्त्ररूप से अपने ज्ञेयाकारों को ही जानता है।’ जैसे— हम किसी अट्टालिका की कल्पना करते हैं। अट्टालिका तो पाषाण की बनी होती है, किन्तु हमारी कल्पना की अट्टालिका तो हमारी कल्पना से बनी है, पाषाण से नहीं। इसी प्रकार ज्ञान के ज्ञेयाकार सब ज्ञान की ही सृष्टि हैं और वे ज्ञेय से अत्यन्त भिन्न ही रहते हैं तथा जगत् में ज्ञेय हैं इसलिये ज्ञान में प्रतिबिम्बित होते हैं यह तर्क ही भ्रम मूलक है जो ज्ञान की अप्रतिहत शक्ति की अवहेलना करके ज्ञान के क्लैव्य की घोषणा करता है।

ज्ञेय जैसा आकार ज्ञान में जानने का यह अर्थ तो कदापि नहीं हो सकता कि ज्ञान का वह कार्य ज्ञेय की कृपा से निष्पन्न हुआ है।

यह तो ज्ञान की स्वच्छता तथा प्रामाणिकता का ही प्रतीक है। जंगल में सदृश्यकार्य तो अनेक होते हैं, किन्तु किसी की कृपा की उनमें कोई अपेक्षा नहीं होती। जैसे हमारे पड़ौसी के घर भात बनाया जाय और हमारे यहाँ भात बनाया जाय तो हमने पड़ौसी का अनुकरण करके अथवा पड़ौसी से कुछ लेकर तो अपना भात नहीं बनाया, हमारा भात स्वतन्त्र रूप से अपने नियत समय में हमारी सम्पत्ति से बना है और इसी प्रकार पड़ौसी का भी, दोनों में कोई सम्बन्ध ही नहीं बनता। हाँ, सादृश्य तो दोनों में है, किन्तु सम्बन्ध कुछ भी नहीं है।

इसी प्रकार ज्ञान में कोई ज्ञेय अथवा घट प्रतिबिम्बित होता है तो ज्ञान का घटाकार तो ज्ञान की अपनी शक्ति से अपने नियत समय में उत्पन्न हुआ है, मिट्टी के घट के कारण नहीं; क्योंकि मिट्टी का घट तो पहले भी विद्यमान था, किन्तु ज्ञान का घट पहले नहीं था। ज्ञान ने अपने क्रमबद्ध प्रवाह में अपना घट अब बनाया है और इस घटाकार की रचना में ज्ञान ने मृण्मय घट का अनुकरण नहीं किया है वरन् ज्ञान का घटाकार मृण्मय घटाकार से नितान्त पृथक् ज्ञान का अपने समय का स्वतन्त्र निरपेक्ष उत्पादन है। ज्ञान में घटाकार की रचना, ज्ञान के अनादि-अनन्त प्रवाहक्रम में नियत क्षण में ही हुई है। इसके एक क्षण भी आगे-पीछे की कल्पना एकान्त मिथ्या है।

‘ज्ञान के सामने घड़ा है’ अतएव घट ही प्रतिबिम्बित हुआ यह बात तर्क और सिद्धान्त की कसौटी पर भी सिद्ध नहीं होती। यदि उसे सिद्धान्ततः स्वीकार कर लिया तो लोकालोक तो सदा ही विद्यमान है, केवलज्ञान क्यों नहीं होता ? पुनः यदि पदार्थ ज्ञान का

कारण हो तो फिर सीप के दर्शन से चाँदी की भ्राँति क्यों हो जाती है ? अथवा वस्तु के न होते हुए भी केश मशकादि का ज्ञान कैसे उत्पन्न हो जाता है तथा भूत और भावी पर्यायों तो वर्तमान में विद्यमान नहीं हैं, उनका ज्ञान कैसे हो जाता है ? अतः ज्ञेय से ज्ञान की सर्वाङ्गीण निरपेक्षता निर्विवाद है।

इस लोक में ज्ञान का ऐसा अद्भुत स्वभाव है और इस निरपेक्ष, निर्लिप्त निरावरण ज्ञान-स्वभाव की प्रतीति एवं अनुभूति भव-विनाशिनी है। ज्ञानी जानता है कि जिस समय जो ज्ञेय मेरे ज्ञान में प्रतिबिम्बित दीख पड़ता है वह सब ज्ञान का ही आकार है; वह सब मैं ही हूँ और वह प्रतिबिम्ब मेरा ही स्वभाव है। ज्ञान का वह आकार ज्ञेय से नितान्त रीता है। उसमें ज्ञेय का एक अविभाग प्रतिच्छेद भी प्रविष्ट नहीं है और वह आकार मेरे ज्ञान के नियत स्वकाल में मेरे ज्ञान से ही उत्पन्न हुआ है और वही उत्पन्न होने योग्य भी है। अन्य परिणाम को उस समय मेरे ज्ञान के प्रवाह में उत्पन्न होने का अवकाश एवं अधिकार नहीं है। इसमें 'यह क्यों' आया और अन्य 'क्यों नहीं' यह प्रश्न ही नहीं रहता।

ज्ञान में प्रतिबिम्बित ज्ञेयाकार के सम्बन्ध में जिसको 'क्यों' यह विषमभाव उत्पन्न होता है। वह वस्तुतः ज्ञान के ज्ञेयाकार ज्ञान-स्वभाव और आत्मा का ही अभाव चाहता है। ज्ञान-स्वभाव की यह प्रतीति निर्भयता एवं निःशंकता को जन्म देती है। ज्ञानी इस प्रतीति में सदा ही निश्चित है कि मेरी ज्ञान-परिधि में जगत् का प्रवेश ही निषिद्ध है। अतः अनेकाकार होकर भी ज्ञान निर्मल ही रहता है और वे अनेकाकार भी ज्ञान ही के विशेष होने के कारण ज्ञान ही हैं। ज्ञान के ये विशेष किसी व्यवस्था की वस्तु नहीं, किन्तु सहज

ही अपने नियत समय में ज्ञान सामान्य में से उत्पन्न होते रहते हैं, अतः ज्ञानी इन विशेषों का भी तिरोभाव करके त्रैकालिक ज्ञान सामान्य पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित करता है और निरन्तर शुद्ध ज्ञान अर्थात् शुद्धात्मा ही उसकी अनुभूति में अवतीर्ण होता है।

इसके विपरीत अज्ञानी सदा ही ज्ञेयाकारों के ज्ञान में प्रवेश की भ्रांति से उद्वेलित रहता है। उसे ऐसा लगता है कि ये इन्द्रियों के विषय मेरे भीतर ही चले आ रहे हैं। वस्तुतः तो इन्द्रिय-विषय ज्ञान में प्रतिबिम्बित मात्र होते हैं। ज्ञान के प्रतिबिम्ब को अज्ञानी साक्षात् ज्ञेय ही समझता है। अतः उसे सदा ज्ञेय मिश्रज्ञान की अशुद्ध अनुभूति ही होती है। श्री समयसार परमागम की १५वीं गाथा की टीका में आचार्य श्री अमृतचन्द्र इसका अत्यन्त मार्मिक चित्रांकन करते हैं -

“अनेक प्रकार के ज्ञेय के आकारों के साथ मिश्ररूपता से उत्पन्न सामान्य के तिरोभाव और विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला (विशेष भावरूप, भेदरूप, अनेकाकाररूप) ज्ञान वह अज्ञानी ज्ञेयलुब्ध जीवों के स्वाद में आता है, किन्तु अन्य ज्ञेयाकार की संयोग रहितता से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव में आनेवाला एकाकार अभेदरूप ज्ञान स्वाद में नहीं आता और परमार्थ से विचार किया जावे तो, जो ज्ञान विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आता है वही ज्ञान सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आता है। अलुब्ध ज्ञानियों को तो जैसे सेंधव की डली, अन्य द्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल सेंधव का ही अनुभव किये जाने पर सर्वतः एक क्षार रसत्व के कारण क्षाररूप से स्वाद में आती है, उसी प्रकार आत्मा भी परद्रव्य के संयोग का

व्यवच्छेद करके केवल आत्मा का अनुभव किया जाने पर सर्वतः एक विज्ञानघनता के कारण ज्ञानरूप से स्वाद में आता है।”

वस्तुतः ज्ञान सामान्य की विस्मृति कर देने पर ज्ञान के अनेकाकार की सृष्टि न बनकर ज्ञेय की सृष्टि बन जाती है और शाक तथा लवण के मिश्रण की भाँति अज्ञानी को सदा ही ‘यह देह मैं ही हूँ’ यह ज्वर मुझे ही है, ऐसा मिश्र स्वाद आता है। किन्तु ज्ञानी को तो सदा ही ज्ञान सामान्य की ही स्मृति है। मेरा ज्ञान ज्वर तथा देहाकार परिणत होने पर भी मैं देह तथा ज्वर से भिन्न ज्ञान ही हूँ। ज्ञान को देह नहीं और ज्ञान को कभी ज्वर चढ़ता ही नहीं। अतः ज्ञान के ज्वराकार और देहाकार परिणाम भी ज्ञानी को दृष्टव्य नहीं।

इसमें यह तर्क भी अपेक्षित नहीं कि यदि निरन्तर ज्ञान सामान्य की ही दृष्टि रहे तो फिर ज्ञान के विशेषों का क्या होगा ? वस्तुतः ज्ञान तो सहज ही ज्ञेय निरपेक्ष रहकर अनेकाकार परिणत होता रहता है। किसी प्रबन्ध के बिना ही वे अनेकाकार ज्ञान में होते रहते हैं। जैसे हमारे घर में झूलते हुए दर्पण में पड़ौस के मकान, मनुष्य आदि सहज मौन भाव से प्रतिबिम्बित होते रहते हैं, हम उनकी व्यवस्था नहीं करते और दर्पण के वे खण्ड भाव (प्रतिबिम्ब) हमारे प्रयोजन की वस्तु भी नहीं होते। यद्यपि वे हमारे जानने में अवश्य आते हैं, किन्तु हमारी अविरल दृष्टि तो अपने अखण्ड दर्पण पर ही केन्द्रित रहती है। यदि हमारी दृष्टि उन खण्ड भावों और प्रतिबिम्बों पर केन्द्रित हो जाए और हम दर्पण की अखण्डता को विस्मृत कर दें तो हमें लगेगा कि हमारे दर्पण में तो कोई मनुष्य अथवा मकान प्रविष्ट हो गया। अतः हम विह्वल हो उठेंगे, किन्तु इन अनेकाकारों

में भी दर्पण तो ज्यों का त्यों विद्यमान है, यह दृष्टि और प्रतीति निराकुलता को जन्म देती है।

अज्ञानी मानता है 'मुझे धन मिला', किन्तु वस्तुतः अज्ञानी के ज्ञान को भी धन का एक आकार मात्र मिला है, धन तो मिला नहीं है। अज्ञानी धन मिलने की कल्पना से ही हर्षित होता रहता है। इसी प्रकार अग्नि के संयोग में अज्ञानी मानता है मैं जल रहा हूँ, किन्तु वस्तुतः अग्निज्वाला ज्ञान में प्रतिबिम्बित मात्र हो रही है, ज्ञान तो जल नहीं रहा है। यदि अग्नि से ज्ञान जलने लगे तो अग्नि की उष्णता को कौन जानेगा ? किन्तु अज्ञानी 'मैं जल रहा हूँ' इस कल्पना से ही विह्वल हो उठता है। वस्तुतः ज्ञान को ज्ञेय से कुछ भी तो नहीं मिलता है। वह तो अपने उन ज्ञेयाकारों में भी उतना का उतना ही रहता है।

हमारे दर्पण में प्रतिबिम्बित किसी अट्टालिका से हम अपने को लाभान्वित तो नहीं मानते और उस अट्टालिका के दर्पण से ओझल हो जाने पर शोकान्वित भी कहाँ होते हैं। इस परिस्थिति में हर्ष या शोक तो किसी बालक का ही कार्य हो सकता है, किन्तु यह दृष्टि तो हमें निरन्तर ही वर्तती है। हमारे घर में स्वच्छ दर्पण झूल रहा है और हम यह भी जानते हैं कि उस दर्पण में जगत् के अनेक पदार्थ भी प्रतिबिम्बित होते हैं, किन्तु हमारे दर्पण में क्या-क्या प्रतिबिम्बित होता है यह हमारी दृष्टि का विषय नहीं होता, वरन् उन प्रतिबिम्बों के प्रति सदा हमारा उदासीन भाव ही प्रवर्तित होता है, जो भी प्रतिबिम्बित होता हो वह दर्पण का स्वभाव ही है। दर्पण के स्वच्छ स्वभाव का विश्वास हमें यह विकल्प ही नहीं उत्पन्न होने देता कि उसमें क्या-क्या प्रतिबिम्बित होता है ? क्योंकि वह हमारे विकल्प

अथवा व्यवस्था का विषय न होकर दर्पण का अकृत्रिम स्वभाव ही है। उसमें जो भी प्रतिबिम्बित होता है, सब व्यवस्थित ही है; व्यवस्था योग्य नहीं तथा वे प्रतिबिम्ब ममता करने योग्य भी नहीं। क्योंकि उन प्रतिबिम्बों की ममता क्लेशकारिणी है। दर्पण में उन प्रतिबिम्बों के आगमन पर ज्यों ही हम हर्षित होंगे, दर्पण से उनका विलय हमें शोक-सागर में निमग्न कर देगा।

अतः दर्पण विशेष की दृष्टि से उत्पन्न कल्पित हर्ष-शोक का अन्त दर्पण सामान्य की दृष्टि से ही सम्भव है, अन्य कोई पथ नहीं है। इसी प्रकार ज्ञान में प्रतिबिम्बित अनेक ज्ञेयाकार रूप ज्ञान के विशेषों में यद्यपि ज्ञान सामान्य की ही व्याप्ति है ज्ञेय की व्याप्ति नहीं, किन्तु ज्ञान के वे विशेष वास्तव में आत्मा के लिये जानने मात्र के अतिरिक्त अन्य कुछ भी प्रयोजन की वस्तु नहीं हैं।

ज्ञान में वे स्वतः ही सहज भाव से निर्मित होते रहते हैं, यथा — ज्ञान में जो घट परिणत हुआ वह घटाकार स्वयं ज्ञान ही है, किन्तु आत्मा उस घटाकार ज्ञान का क्या करे ? अतः निरन्तर ‘मैं तो ज्ञान ही हूँ घट नहीं’ यह सामान्य की दृष्टि एवं अनुभूति ही शांति प्रदायिनी है।

ज्ञान-स्वभाव की प्रतीति अनन्त प्रश्नों, अगणित घटना-चक्रों तथा असंख्य परिस्थितियों का एकमात्र समाधान है। उस दृष्टि में शुद्ध अखण्ड एकरूप ज्ञान के अतिरिक्त आत्मा में कुछ भासित ही नहीं होता। ‘मैं तो ज्ञान का ध्रुव-तारा हूँ’ इसमें आत्मा के साथ देह, कर्म और राग का संबंध भी कहाँ रहा ? राग तो आत्मा और कर्म की संयोगी दृष्टि में भासित होता

है। जैसे जल को कीच के साथ देखने पर मलिनता अनुभव में आती है, किन्तु शुद्ध जल-स्वभाव के समीप जाकर देखें तो जल में कीच कहाँ है। जल तो कीच के साथ भी जल ही है। इस प्रकार कर्म और आत्मा की संयोगी दृष्टि में आत्मा में राग-द्वेष, पुण्य-पाप दृष्टिगत होते हैं, किन्तु शुद्ध ज्ञान-स्वभाव की समीपता में ज्ञान में न राग है, न द्वेष है, न पुण्य है, न पाप है, न देह है और न मन वाणी हैं। कर्म और देह के विविध अप्रत्याशित परिणाम ज्ञान का स्पर्श भी नहीं कर पाते।

प्रलयकाल के भयंकर प्लावन के बीच ज्ञान तो अनुभव करता है कि मेरे ज्ञान में प्रलय नहीं हुआ है। मैं तो प्रलय का भी ज्ञाता ही हूँ। प्रलय के द्रव्य ज्ञान में प्रतिबिम्बित होते हैं, किन्तु ज्ञान प्रलयाकार होने पर भी ज्ञान में प्रलय का प्रवेश नहीं होता। जैसे सागर को समर्पित पुष्पहार अथवा प्रहार सागर के वक्ष में चित्रितमात्र ही रह जाते हैं और सागर रोष अथवा तोष की विषम अनुभूतियों से शून्य एक रूप ही रहता है। इसी प्रकार विश्व का सर्वस्व ज्ञान में प्रतिबिम्बित होने पर भी ज्ञानी उन सम्पूर्ण विशेषों का तिरोभाव करके 'मैं त्रिकाल ज्ञान ही हूँ' विश्व नहीं - इस शुद्ध ज्ञान का ही चिरंतन सचेतन करता है।

जगत् की भयंकर प्रतिकूलताओं और सप्तम नरक की यातनाओं में भी ज्ञानी को शुद्ध ज्ञान का यह संचेतन अबाधित रहता है। जब ज्ञान को देह नहीं, तब प्रतिकूलता का अस्तित्व ज्ञानी की दुनियाँ में ही कहाँ रहा ? प्रतिकूलता और नरक की यातना का ज्ञान में प्रवेश ही नहीं है, तब प्रतिकूलता और

यातना ज्ञान को कैसी? इस प्रकार ज्ञान के वज्र कपाटों का भेदन करके कोई ज्ञान स्वभाव में प्रविष्ट ही नहीं हो पाता। अतः ज्ञान त्रिकाल शुद्ध, एकरूप ही रहता है। इसी ज्ञान के शुद्ध एकत्व में प्रतिष्ठित होकर ज्ञानी शुद्ध अनुभूति के बल से निरन्तर कर्मों का क्षय करता हुआ मुक्ति के पावन पथ पर बढ़ता चलता है और अन्त में मुक्ति उसका वरण कर लेती है।

वस्तुतः ज्ञानी को मुक्ति की भी चाह नहीं है ज्ञान तो त्रिकाल मुक्त ही है। उसे नई मुक्ति अथवा सिद्ध दशा की भी अपेक्षा नहीं है। ज्ञान तो जगत् के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सदा ही मुक्त पड़ा है। ज्ञान तो नरक में भी मुक्त ही है। वह सदा ज्ञायक ही तो है। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी कल्पना उसके प्रति व्यर्थ है। उसे आस्रव और बंध भी नहीं है फलतः संवर, निर्जरा और मोक्ष भी उसे नहीं है; क्योंकि जो पहिले बँधा हो, उसी के तो छूटने का प्रसंग बन सकता है। जो कभी बँधा ही नहीं, उसकी मुक्ति की वार्ता ही व्यर्थ है। लोक की हर परिस्थिति में 'मैं तो ज्ञान ही हूँ' यह दृष्टि तथा ज्ञान का यह शुद्ध संचेतन भव के कपाटों का भेदन करके मुक्ति के पावन द्वार का उद्घाटन करता है। यही दृष्टि लोक मांगल्य की अधिष्ठात्री है जिसमें पर्याय दृष्टि के सम्पूर्ण क्लेश का अन्त हो जाता है।

विषमतम परिस्थिति में भी आनन्द के मुक्ता बिखेर कर भवप्रसूत चिर दरिद्रता का अन्त करके शान्ति का कोष खोल देने वाली शुद्ध ज्ञान की यह प्रतीति एवं अनुभूति चिर-जयवन्त वर्ते, चिर-जयवन्त वर्ते।





बाबू जुगलकिशोर 'युगल'

जन्म : 5 अप्रैल 1924

खुरी, जिला- कोटा (राज.)

शिक्षा : एम.ए., साहित्यरत्न

पता : 85, चैतन्य विहार, आर्य समाज स्ट्रीट
रामपुरा, कोटा (राज.) 324006

ख्यातिप्राप्त दार्शनिक विद्वान बाबू जुगलकिशोर 'युगल' को प्रसिद्ध देव-शास्त्र-गुरु पूजा एवं सिद्ध पूजा लिखने के कारण समाज में वही स्थान प्राप्त है, जो हिन्दी साहित्य में 'उसने कहा था' कहानी के लेखक पण्डित चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' को। 'युगलजी' उच्चकोटि के कवि, लेखक एवं ओजस्वी वक्ता हैं।

15 वर्ष की अल्पवय में ही आप में काव्य-प्रसून अंकुरित होने लगे थे। तब राष्ट्रीय चेतना एवं स्वतंत्रता-संग्राम का युग था। युग के प्रवाह में आपकी काव्यधारा राष्ट्रीय रचनाओं से प्रारम्भ हुई। पारम्परिक धार्मिक संस्कार तो आप में बचपन से ही थे, किन्तु उन्हें सम्यक् दिशा मिली इस युग के आध्यात्मिक क्रान्ति स्रष्टा श्री कानजीस्वामी से।

स्वयं श्री 'युगलजी' के शब्दों में - 'गुरुदेव से ही मुझे जीवन एवं जीवनपथ मिला है।' युगलजी दर्शन को जीवन का समग्र स्वरूप मानते हैं और दर्शन की सर्वांग क्रियान्विति चैतन्य के साक्षात्कार में स्थापित करते हैं-

**जो चेतन के भीतर झाँका, उसने जीवन देखा
बाकी ने तो खींची रे ! परितप्त तटों पर रेखा**

जनमानस में जैन दर्शन का साधारणीकरण आपके काव्य का मूल लक्ष्य है।

आप सफल गद्य एवं नाट्य-लेखक भी हैं। आपके साहित्य कोष से लोकोत्तर रचनाओं में काव्य संग्रह "चैतन्य वाटिका" एवं गद्यविद्या "चैतन्य विहार" में साहित्य व अध्यात्म के समावेश से जैन जगत को नया आयाम मिला है।

युगलजी अखिल भारतीय स्तर के प्रवचनकार हैं और उनकी उपस्थिति धार्मिक आयोजनों का महत्त्वपूर्ण आकर्षण मानी जाती है।

**"हे विश्व कवि मैं तुमको क्या अर्पण कर दूँ
मेरी क्या हस्ती है, जो तुमको तर्पण कर दूँ
तुम हो सूर्य गगन के, मैं कण माटी का
तुम ही सागर ज्ञान सिन्धु, मैं एक बिन्दु सा"**